छब्बीस : अक्टूबर-दिसम्बर 2013 ISSN : 2278-2338

अक्सर

मानव संघर्ष की रचनात्मक अभिव्यक्ति



राजेन्द्र यादव
(1929-2013)

ISSN : 2278-2338

छब्बीस : अक्टूबर-दिसम्बर, 2013

अक्सर

मानव-संघर्ष की रचनात्मक अभिव्यक्ति

प्रधान सम्पादक

हेतु भारद्वाज

सम्पादक

गोविन्द माथुर

शिवशरण कौशिक

सुभाष चन्द्र

मूल्य

एक प्रति : 25 रुपये

वार्षिक : 100 रुपये मात्र (व्यक्तिगत)

500 रुपये मात्र संस्थाओं के लिए

आजीवन सदस्य

1000 रुपये मात्र

संपादकीय कार्यालय

ए-243, त्रिवेणी नगर, गोपालपुरा बाईपास,

जयपुर-302 018 (राजस्थान)

दूरभाष : 0141-2760160, 94147-52039

09828885028 (गोविन्द माथुर), 09887098640 (शिवशरण कौशिक)

09928846874 (सुभाष चन्द्र)

ई-मेल : aksar.tramasik@gmail.com

मुद्रण

श्री पदम कम्प्यूटर सेन्टर

2212, हरसुख कासलीवाल की गली, किशनपोल बाजार, जयपुर

इस अंक में

सम्पादकीय

प्रेतछायाओं से घिरा व्यक्ति

29 अक्टूबर 2013 की सुबह कानपुर से लौटने पर मुझे राजेन्द्र यादव के दिवंगत हो जाने की सूचना मिली- मैं जानता हूं यह एक न एक दिन होना ही था। लेकिन राजेन्द्र यादव के जाने पर मीडिया की उदासीनत चौंकाने वाली कम, पीड़ा पहुंचाने वाली अधिक रही। मन्नाडे और रेशमा को भी यह काफी स्थान देता है, रोहित शर्मा के दोहरे शतक पर तो यह लहलोट हो जाता है। मेरा मतलब यह नहीं यह गलत है किन्तु अग्रणी और साहसी पत्रकार राजेन्द्र यादव मीडिया के लिये अपरिचित नहीं थे। मीडिया के लोगों से उनका गहरा सम्पर्क था। मीडिया की भूमिका पर वे 'हंस' में सामग्री छापते थे। इतना ही नहीं मीडिया पर 'हंस' का विशेषांक भी निकाला था। मुकेश कुमार 'हंस' में निरंतर लिख रहे थे। उनके उपन्यास 'सारा आकाश' पर फिल्म भी बनी थी। श्याम बेनेगल, मणिकौल आदि से उनके निकट के सम्बंध थे। अभिताभ बच्चन से हुए विवाद पर उन्होंने सम्पादकीय लिखा था और अमिताभ बच्चन के पत्र को भी 'हंस' में छापा था। गुलजार की कहानियाँ वे 'हंस' में छापते थे। ऐसे व्यक्ति के जाने पर मीडिया की ठंडी प्रतिक्रिया चौंकाने वाली है, क्योंकि जो मीडिया राजेश खन्ना जैसे सामान्य अभिनेता की मृत्यु पर हफ्तों गमगीन रहता है, वह एक ऐसे सार्वजनिक बुद्धिजीवी के जाने पर मौन रहता है जो हर अमानवीय घटना में हस्तक्षेप करता था, गलत का विरोध करता था और कतार में सबसे पीछे खड़े आदमी का पक्षधर था। पर मीडिया के लिये नीता अम्बानी के जन्मदिन की खबरें जनता तक पहुंचाना शायद अधिक जरूरी था। इससे मीडिया के सरोकारों की पोल खुल जाती है।

निश्चय ही राजेन्द्र यादव कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे पर मीडिया शायद इसलिये अधिक उत्साही नहीं हो पाया क्योंकि राजेन्द्र यादव को लेकर एक विवाद इन दिनों चर्चा में था। विवादों में रहना उन्हें पसन्द था। इस विवाद में भी राजेन्द्र यादव का पक्ष आना बाकी था। उम्मीद थी कि नवम्बर, 13 के 'हंस' के सम्पादकीय में वे इस विषय पर अपना पक्ष रखेंगे। पर नवम्बर के अंक के सम्पादकीय में उन्होंने कुछ नहीं कहा। इस विवाद का अवसान इसलिये भी आवश्यक था कि इसमें राजेन्द्र यादव को

उनकी मूल प्रतिज्ञाओं और चिन्ताओं के विरूद्ध प्रस्तुत किया जा रहा था। पर वे बिना उत्तर दिये चले गये।

मैं यह दावा नहीं कर सकता कि राजेन्द्र यादव के साथ मेरी अंतरंगता थी क्योंकि उनका मित्र परिवार बहुत बड़ा था। अपनी सारी सीमाओं के बावजूद वे एक बहुत बड़े व्यक्ति थे। पर इतना जरूर है कि मुझे उनकी आत्मीयता की ऊष्मा मिलती रही है। सातवें दशक में ही मेरा उनसे परिचय हो गया था। इस लम्बी अवधि में उनके साथ अनेक बार सार्वजनिक संवाद करने, व्यक्तिगत स्तर पर अंतरंग बातें करने, साथ ठहरने, परस्पर बहस करने, उनका विरोध करने, उनका विरोध सहने का अवसर मिला। दिल्ली जाता तो 'हंस' कार्यालय जाकर उनसे बतियाने की इच्छा जरूर रहती। मेरे पास उनके साथ की बहुत सी स्मृतियां है।

यदि हम राजेन्द्र यादव के कलाकार व्यक्तित्व पर विचार करें तो पाएंगे कि उनके रोल मॉडल हेमिंग्वे, कॉफ्का, सार्त्र जैसे लेखक हैं जिनका जीवन कमोबेश अराजक है। राजेन्द्र यादव के लिये भी 'कला महलों में नहीं पलती।' अभाव में गति है, और गति कला का प्राण है। (खेल और खिलौने पृ. 113) शायद इसीलिए उनकी बहुत सारी कहानियों के पात्र कलाकार हैं, 'शह और मात' तथा 'एक इंच मुस्कान' के केन्द्रीय पात्र भी कलाकार हैं। वे अपनी रचनाओं में कलाकारों की अभावग्रस्तता का चित्रण तो करते हैं पर उनकी स्वयं की जीवन शैली पॉश ही रही। नई कहानी के तीनों पुरोधाओं की जीवन शैली लगभग एक सी है। शायद और कोई समानता उनमें नहीं है। मोहन राकेश में रचनाशीलता शिखर पर है तो राजेन्द्र यादव में पच्चीकारी है जबकि कमलेश्वर में हर क्षेत्र में मैनेज करने का गजब का हुनर है। राजेन्द्र यादव अपने रचनाकार होने के प्रति बहुत सचेत हैं। इसलिए वे विधिवत कोई नौकरी भी नहीं करते पर उनका जीने का अंदाज शाही है। उनकी जीवनशैली से कहीं नहीं लगता कि वे भारत के गरीबों और मजलूमों के प्रतिनिधि हैं।

उनके व्यक्तित्व में हीनभावना तो भरपूर है पर किसी प्रकार की दुविधा नहीं है। वे स्वभाव से पजैसिव जरूर हैं पर दूसरों को सम्मान देने में कोई कोताही नहीं बरतते। मन में किसी के प्रति गांठ बांधकर नहीं रखते। छोटे-बडे की परवाह नहीं करते। यह जरूर है कि वे विवादों और चर्चा में रहना पसंद करते हैं। कोई विवाद उन्हें विचलित भी नहीं करता। इतना ही नहीं वे विवाद पैदा करने में विश्वास करते हैं। अपने ऊपर लगने वाले आरोपों को सहजता से सह लेते हैं। बात उन दिनों की है जब वे 'अपना घर' छोड़कर (मन्नू भंडारी को छोड़) रहने मयूर विहार चले गये थे। तरह-तरह की चर्चाएँ पत्रिकाओं में छप रही थी। उन्हीं दिनों मैं 'हंस' कार्यालय में पहुँचा। संयोग से वे अपने

कमरे में अकेले थे। बातों-बातों में उन्होंने पूछा, 'मेरे और मन्नू के बारे में जो कुछ छप रहा है, उस पर तुम्हारी क्या प्रतिक्रिया है?'

'इस देश में लाखों पति-पत्नी लड़ते झगड़ते रहते हैं, तलाक भी होते रहते हैं, लड़ते-झगड़ते जीवन काट देते हैं, पर चौराहे पर खड़े होकर अपने मतभेदों का इस तरह प्रचार नहीं करते जैसे आप लोग कर रहे हें। किसे फुर्सत है आप लोगों के झगड़ों पर ध्यान देने की?'

'तुम तो यह बताओ इस सारे मामले में तुम दोषी किसे अधिक मानते हो?' उन्होंने मेरी बात काटते हुए पूछा-

'आप तो एन्ज्वाय करते हैं इस सबको?'

'तुम साले राजस्थान के हो, मन्नू का ही पक्ष लोगे' उन्होंने व्यंग्य किया।

'इसमें पक्ष लेना कहाँ से आ गया। मुझे तो लगता है यह सब आपकी स्ट्रेटेजी है कि लोगों का ध्यान आप पर ही बना रहे। तभी इन विवादों को इतनी हवा.....'

'पंडित तुम बहुत बदमाश हो' कहकर उन्होंने विषय बदल दिया।

मेरा मानना है कि राजेन्द्र यादव लेखन में जितने गम्भीर और मौलिक हैं व्यवहार में उतने ही लापरवाह और मजाकिया। शायद यह उनकी हीनभावना ही है कि वे स्वयं को विवादों के केन्द्र में बनाये रखने की हर कोशिश करते रहते हैं। निश्चय ही उन्होंने स्त्री विमर्श और दलित विमर्श को पूरी ऊँचाई पर पहुँचाया, व्यापक बहस का मुद्दा बनाया पर उन्हीं का प्रयास रहा कि स्त्री विमर्श लंफगई से अलग न हो पाए और दलित विमर्श जातिवाद का पर्याय बन जाए। इसका कारण यह रहा कि वे स्त्री विमर्श को देह विमर्श में तब्दील करते रहे। दलित विमर्श में उनके चिंतन की सुई पाँच हजार वर्ष पहले के समय पर अटकी रही। उनके चिन्तन को 'सारा आकाश' उपन्यास में रचनात्मक अभिव्यक्ति मिली है। इस उपन्यास में उनकी रचनात्मक क्षमता उत्कर्ष पर है। इसे क्या कहेंगे कि 'शह और मात' 'उखड़े हुए लोग' जैसे उपन्यासों में उनकी रचनाशीलता के विकास के प्रमाण नहीं मिलते, 'मंत्रबिद्ध' की तो पठनीयता ही बहुत कमजोर है। 'कुलटा' जरूर उन्हें कुछ आगे ले जाने वाली कृति है पर उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए 'सारा आकाश' ही सबसे महत्वपूर्ण कृति है। कहानियों में 'खेल-खिलौने', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'तलवार पंचहजारी', 'बिरादरी बाहर' आदि कहानियों में वे जितने सहज और दृष्टि-सम्पन्न हैं उतने 'टूटना', 'अपने पर', 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'लंच टाइम', 'ढोल', 'प्रतीक्षा' जैसी कहानियों में नहीं। लगता है वे कहानियाँ रच नहीं रहे, गढ़ रहे हैं।

उनकी त्रासदी यह भी रही कि वे अपने गम्भीर लेखन के प्रति बहुत गम्भीर कभी नहीं रहे। हिन्दी में जब कथा समीक्षा की चर्चा होती है तो नामवर सिंह, सुरेन्द्र चौधरी, देवी शंकर अवस्थी, धनंजय वर्मा, ऋषीकेश आदि के नाम लिये जाते हैं जबकि सच्चाई यह है कि कथा समीक्षा के क्षेत्र में जितना व्यवस्थित और गम्भीर कार्य राजेन्द्र यादव ने किया उतना किसी अन्य लेखक ने नहीं। राजेन्द्र यादव ही हैं जो 'चन्द्रकान्ता' जैसे उपन्यास की सामाजिक और साहित्यिक मूल्यवत्ता को रेखांकित करते हैं। प्रेमचंद की विरासत के बहाने साहित्यिक विरासत को नयी अर्थवत्ता प्रदान करते हैं, 'एक दुनिया समानान्तर' संकलन की भूमिका लिखकर हिन्दी कहानी के बदलते स्वरूप को सच्चे अर्थों में पहचानते हैं तथा संकलित कहानियों से अपनी अवधारणाओं की पुष्टि करते हैं। इस संकलन की भूमिका की रचनात्मक परिणति 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' नामक समीक्षा कृति में होती है।

मैंने उनके समीक्षा कर्म पर 1992 में अपनी पुत्री मनीषा से एम.ए. (हिन्दी) के लिए लघु शोधप्रबंध लिखवाया था। जब मैंने उन्हें यह शोधप्रबंध दिखाया तो वे बहुत प्रसन्न हुए और बोले 'यार ये काम तो बहुत अच्छा है, इसे छपवाओ।'

'अभी नहीं, मैं उससे पीएच.डी. इसी विषय पर कराऊँगा', मैंने कहा था।

'इसमें 'हंस' के सम्पादकीयों को भी शामिल करवा लेना' उनका सुझाव था। पर तभी मनीषा का विवाह हो गया और वह अपने गृहस्थ जीवन में ऐसी रमी कि उसे पीएच.डी. करने की न फुर्सत मिली न जरुरत रही।

हिन्दी जगत ने उनके समीक्षा कर्म को बहुत गम्भीरता से समझने का प्रयास नहीं किया। उन्होंने भी इसकी कभी परवाह नहीं की। जरूरी और गम्भीर चीजों के प्रति वे कितने बेपरवाह थे इसका अहसास मुझे एक अन्य घटना से हुआ। डॉ. गिरिजा व्यास तब केन्द्र में सूचना एवं प्रसारण मंत्री थीं। इसमें संदेह नहीं कि वे विदुषी, शालीन और बहुत सहज महिला हैं। उनकी प्रथम नियुक्ति राजकीय महाविद्यालय, नीमकाथाना में हुई थी और वे उदयपुर से डॉ. नवलकिशोर का परिचय-संदेश लेकर वहाँ आयी थीं। उनसे बहुत आत्मीयता रही। उस आत्मीयता की गंध ने मुझे तब-तब सुवासित किया है जब-जब उनसे मिलना हुआ है। राजेन्द्र यादव को किसी ने कहा होगा कि डॉ. गिरिजा व्यास से 'हंस' के लिए विज्ञापन की बात करने में मैं सहायक हो सकता हूँ। उन्होंने मुझे फोन कर गिरिजा जी से मिलने के लिए दिल्ली बुलाया। उन दिनों फोन मिलना भी बहुत सरल नहीं था। मैंने डॉ. गिरिजा व्यास से भी मिलने की बात तय कर ली और राजेन्द्र जी को भी तारीख बता दी। मैं निर्धारित दिन 'हंस' कार्यालय में पहुँच गया। वहां से मैंने गिरिजा

जी से फोन पर बात की। उन्होंने कहा कि 5 बजे तक कार्यालय में आ जाओ। बाद में घर आ जाना। राजेन्द्र जी ने कहा कि 4 बजे उनके ऑफिस में चलकर मिलेंगे।

तीन बजे के आस-पास राजेन्द्र जी के पास एक और फोन आया कि 4 बजे एक पार्टी है उसमें उन्हें जरूर आना है। बहुत सारे लेखक आ रहे हैं। रसरंजन तो होगा ही, यारबाशी की बातें भी होंगी। राजेन्द्र जी ने उनसे कह दिया कि वे जरूर आयेंगे। फोन रखकर वे मुझसे बोले, 'यार यह तो संकट हो गया, पार्टी में जाना भी जरूरी है। तुम भी चलो।'

'मैं क्या करूंगा। मैं तो रात को ही लौट जाऊँगा। चाहें तो पार्टी से पहले गिरिजाजी से मिल लें।' मैंने प्रस्ताव रखा।

'नहीं यार, वहां पता नहीं कितनी देर लग जाए? पार्टी का मजा जाता रहेगा। अच्छा ऐसा करो, उनसे मिलने फिर कभी चलेंगे। यार लोगों का जमावड़ा कब कब होता है।' सुनकर मैंने कुछ नहीं कहा। उन्होंने मुझसे साथ चलने का आग्रह किया पर मैंने मना कर दिया। मैं बहुत निराश भी हुआ। पर मैंने उनसे यही कहा, 'अब इस काम के लिए मुझसे न कहना' और उन्होंने फिर कहा भी नहीं।

मुझे लगता है वे जीवन के मजों की कीमत पर कुछ नहीं चाहते थे, वे अपने मजे के लिए अपनी प्रतिष्ठा तक को दांव पर लगा देते थे और उन्होंने ऐसा किया भी। जिसका नतीजा उन्हें भुगतना पड़ा, मरने से पहले जो घटनाक्रम चल रहा था वह उनके लिए न सुखकर था न प्रतिष्ठादायक। अगर लोग उन्हें केवल मजावादी ही मानने लगे हों तो कसूर राजेन्द्र यादव का ही था। शायद मृत्यु से पूर्व उन्हें व्यर्थ के प्रवादों से घिरे होने का पश्चाताप हुआ होगा। इन तुच्छ प्रवादों के कारण वे अप्रासंगिक भी होने लगे थे। क्या उन्हें इसकी पीड़ा नहीं हुई होगी? इस वय में भी वे ऐसे आरोपों से घिरे थे जिनसे उन्हें दुख हुआ होगा? शायद इसी कारण मृत्यु को उन्होंने जल्दी ही अपने पास बुला लिया!

जो भी हो, जो कुछ अच्छा बुरा उनके साथ हुआ उसके जिम्मेदार वे स्वयं थे। उनकी सारी क्षुद्रताएं उनकी महानता का अंग थी। उनकी जीवट अपराजेय रही पर वे उसका अपव्यय भी उन लोगों के लिए करते रहे जो केवल निजी स्वार्थ के लिए उनसे जुड़ते थे। वे परस्पर व्यवहार में जितने सहज और सरल लगते थे, उनका व्यक्तित्व उतना ही जटिल था- अनेक कुंठाओं से भरा हुआ। लगता था जैसे वे हर वक्त किसी न किसी प्रेतछाया का मीडिया बन कर जीते थे। वे लेखन में जितने गम्भीर और व्यवस्थित हैं, आचरण और व्यवहार में उतने ही आराजक और उच्छृंखल। सैक्स उनके व्यक्तित्व की बहुत गहरी और ठोस ग्रंथि है जिसके कारण वे अपने चारों ओर नये नये विवाद गढ़ते हैं।

वे इस बात की परवाह भी नहीं करते कि लोग उनके विवादों पर चर्चा अधिक कर रहे हैं, उनके लेखन पर कम। वे व्यवहार के स्तर पर अपनी ग्रंथियों की प्रेत छाया को ढोते रहे- व्यवहार में वे जितने प्रजातांत्रिक थे अपने व्यक्तित्व में उतने ही व्यक्तिवादी थे। चर्चाओं में उनकी व्यक्तिवादी प्रवृतियाँ ही अधिक रहीं। अपना विरोध भी बहुत सहजता से वे सह नहीं पाते थे। सारी कोशिशों के बावजूद विरोध करने पर उनकी कमतरी का भाव प्रकट हो ही जाता था।

उनका व्यक्तिगत व्यक्तित्व अनेक प्रेतछायाओं से घिरा रहा। हम चाहें तो उन्हें प्रेतमुक्त कर सकते हैं। उनके व्यक्तित्व से जन्मे विवादों को भुलाकर उनके रचना संसार पर चर्चा करके। सोचता हूँ हमें राजेन्द्र यादव के विवादों पर बात करनी बंदकर उनके कृतित्व के मूल्यांकन की पहल करनी चाहिए। फिलहाल उनके जाने से एक शून्य तो पैदा हुआ ही है जिसकी सबसे अधिक अनुभूति बाहर से आने वाले उन लेखकों को होगी जिनके लिए 'हंस' कार्यालय एक मुक्त मंच था, जहाँ जाकर लोग अपना दिल्ली आना सार्थक मानते थे।

इन्हीं शब्दों के साथ 'अक्सर' परिवार की राजेन्द्र यादव को हार्दिक श्रद्धांजलि। इस बीच यशस्वी आलोचक डॉ. परमानंद श्रीवास्तव, लोक-रचनाकार विजयदान देथा 'बिज्जी', बाल साहित्य के पुरोधा हरिकृष्ण देवसरे, दलित रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि, व्यंग्य लेखक के.पी. सक्सेना, राजस्थान के ओंकारश्री, डॉ. विश्वम्भर व्यास के निधन पर 'अक्सर' परिवार की आदरांजलि।

'अक्सर' के प्रथम अंक से ही डॉ. लक्ष्मी शर्मा इस पत्रिका से जुड़ी रही हैं। इस पत्रिका के निर्माण में उनका योगदान अविस्मरणीय है। अपनी नौकरी केन्द्रित व्यस्तता तथा अस्वस्थता के कारण वे 'अक्सर' से अलग हो रही हैं। यह उनकी अपनी पत्रिका है। उनका रचनात्मक सहयोग हमें मिलता रहेगा, इसके प्रति हम आश्वस्त हैं। वे पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न रहें, यही कामना है। इस अंक से युवा समीक्षक तथा प्रखर वक्ता डॉ. सुभाष चन्द्र 'अक्सर' के सम्पादन से जुड़ रहे हैं। उनका स्वागत है।

हेतु भारद्वाज

धरोहर

तलवार पंचहजारी

राजेन्द्र यादव

आदमी का चेहरा इतना विकृत भी हो सकता है, यह मैंने उसी दिन देखा। लालू के चेहरे की सौम्य रेखाएं सहसा ऐंठकर अकड़ गयी, कटार छाप मूंछों के ऊपर नथुने फैलकर फड़क उठे, भोहें सिकुड़कर एक दूसरी में जा मिली और निचला होंठ बाहर निकल आया। उभरी नसोवाले पंजे से जैसे किसी-किसी चीज को मरोड़ता हुआ सा वह बोला, ''काका को गम की उस पंचहजारी तलवार का है, सुना ? उन्हें इस बात का कोई अफ़सोस नहीं है कि उनका बेटा चुपचाप घर छोड़कर भाग आया; वह भागा है, उनके खानदान की अकेली निशानी तलवार को लेकर; इस चीज ने उनका दिमाग खराब कर दिया है! अच्छा, मैं पूछता हूं, क्या करते वो उसका? यही न कि उसे भी कही गिरवी रख देते और शराब पी जाते और नशे में भाइयों और बेटे का नाम लेकर वाही-तवाही बकते?''

उसका चेहरा देखकर मैं सहम गया, ''लालू भाई, बात सिर्फ़ इतनी ही नहीं है। आखिर यह भी तो तुम्हारा फर्ज था कि आकर एक खत ही लिख देते। वे लोग कितने परेशान हुए होंगे, यह भी तो सोचा होता?. . . . . तुम उस घर के बेटे हो!''

लालू ने किसी मुठ्ठी वाले अंगूठे से बालों लदी छाती को ठोंकते हुए कहा, ''मैं कह तो रहा हूं कि वे परेशान इस बात पर नहीं होंगे की लालू भाग गया, परेशान इस पर होंगे कि तलवार साथ ले गया, परेशान इस पर होंगे कि रसोइये के लडके ने जाकर गढ़ी में यह बता दिया कि लालू बंबई के होटल में बैरा हो गया है!. . . . . वो तो कहो कि वह सिर झुकाये बैठा था, इसलिये मैं उसे पहचान नहीं पाया, वर्ना उस हरामजादे रसोइये के बच्चे को चाय नहीं, ठोकर सर्व करता! बीसियों बार उबलती चाय फेंककर उसके मुंह पर मारी है!''

मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर धीरे से सहलाते हुए उसकी उत्तेजना शांत करने के लिए कहा, ''खैर, जो भी हो, लालू भाई, अब तो रायसाहब की हालत देखकर कलेजा मुंह को आता है! अभी पिछली बार गया था, तो पकड़ लिया मुझे। नहर के

किनारे वाली बंगलिया में ले गये। अब वे वहीं रहते हैं। शायद कुछ और अब बचा भी नहीं है। पिये हुए तो शायद उस वक्त भी थे। वहां तुम्हारा नाम ले लेकर वह रोये हैं कि बयान नहीं कर सकता। कहते थे कि 'लालू क्यों नाराज है, मैं जानता हूं, मुझसे जिंदगी की सबसे बड़ी गलती हो गयी! उससे कहना, भूल सभी से होती है।' वह मेरे पैरों पर गिर पड़े कि 'राजेन, तुम बंबई जा रहे हो, कही मिल जाये तो उसे भेजना, जैसे भी हो भेजना! देखो, बुढ़ापे में मैं क्या करूं? एक उसी का आसरा है। इन सब लोगों ने मुझे पागल बना रखा है। कहते हैं, शराबखोरी और लड़के के भाग जाने के गम ने मेरा दिमाग खराब कर दिया है। हरामजादो! तुम्हारे बाप की तो नहीं पी रहा?. . . .. अपना घर फूंक रहा हूं और पी रहा हूं! .. भैया, जैसा भी हो, उसे भेजना! ये लोग सब मुझे कोंचते हैं कि बचना महाराज का लड़का खुद देखकर आया है, लालू होटल में बैरे का काम करता है!' ''

लालू बीच में बात काटकर बोला, ''बैरा का काम न कर ले, तो यहां तुमने लालू के लिए कलक्टरी रख छोड़ी है?''

मैं बताता रहा, ''कहते थे, अरे, कुछ तो इज्जत का ख्यात रखता। एक बार तो सोचता कि आखिर हम लोग किस खानदान के हैं! रायसाहब ठाकुर गजराजसिंह रईस का लड़का होटल में बेरागिरी करे? उससे कहना, बेटा, जैसे भी हो, चला आये! आज जो ये बड़े बड़े अफ़सर मिनिस्टर मंत्री बने फिरते हैं, इनमें से कम-से-कम सैकड़ों को तो हमने कुत्तो की तरह जूठन डालकर पाला है! किसी हरामजादे में तो गैरत होगी, किसी के भीतर तो मेरा नमक बोलेगा! और कुछ नहीं तो दूसरी शादी कर दूंगा। आज भी बड़े-से-बड़ा जागीरदार मेरे पांव पकड़ेगा और मेरे लालू को अपनी लड़की देगा। पहली लड़की का बाप भी तैयार है। उसके रसूख हैं, कहीं-न-कहीं लगा देगा। कुछ नहीं तो कोई बिजनेस ही करा देगा। लड़की उसे पसंद नहीं है, तो लालू उसका मुंह न देखे। लेकिन अपने जीते जी तो उसे विधवा बनाए हुए है, इस कलंक से तो उसे मुक्ति दे।' कहते थे कि बस, एक ही हविस है कि लालू के लड़के को खिला जाऊं। यह संतोष तो हो जाये कि मेरा वंश मेरे सामने ही डूब नहीं गया। राव राजा सुमेरसिंह की आत्मा तो मुझे न धिक्कारे! वर्ना ये साले रिश्तेदार मेरी बोटी-बोटी नोच खायेंगे। पागल करार देकर मुझे कुत्ते की मौत मरवा देंगे!'' रायसाहब की बातों को दुबारा सुनाते हुए मेरा गला भी भर्रा आया। थूक निगलकर बोला, 'यार, लालू, सच कहता हूं, बहुत रो रहे थे! उनकी हालत पर तो मैं भी अपनी रुलाई बड़ी मुश्किल से रोक पाया था। सचमुच, सारे कस्बे ने उन्हें पागल बना रखा है। मैं जब लौटा, तो सबने मुझे घेर लिया, 'पगले रायसाहब ने क्या-क्या कहा? कैसे छूट आये तुम उनके चक्कर से?' उस वक्त तो मुझे भी डर लग रहा था कि एक तो नशे में, फिर दिमाग यों भी कुछ बहका हुआ. . . कुछ कर करा बैठे, तो उनके भारी भरकम डील-डौल के सामने मैं कर क्या पाऊंगा? मुझे लगता है लालू, अब वे

बहुत चलेंगे नहीं। तू उनसे एक बार मिल आ न! वह तो कहो, बाई चांस तुमसे मुलाकात हो गयी, वर्ना ये सारी बातें शायद तुम्हें पता नहीं चलतीं। बस का लंबा क्यू देखकर सोचा, चलो पहले एक कप चाय पी डाली जाये।''

लालू दोनों हाथ मेज पर समानांतर फैलाये चुपचाप बाहर देखता रहा। हाथों के बीच में मेरे अनुरोध पर लिया हुआ कप रखा था। मैंने फिर उसके चेहरे को, सारे शरीर को गौर से देखा। दस साल पहले वाली न वह चिकनाई थी, न अल्हड़ मस्ती। खाल काली पड़ गयी थी, कल्लों और आंखों के नीचे झुर्रिया उभर आयी थी और आंखों में अजीब मटमैलापन छा गया था। कॉलेज का कुंवर इंद्रजीत सिंह रौबदार ढंग से दो लांगोंवाली शलवारनुमा धोती बांधा करता था और रेशमी कुर्ते में उसकी छाती की चौड़ाई बरबस आतंक पैदा करती थी! आज लालू बिना बनियान, बिना बटनों की आधी बांहों की उठे कालरवाली ऊंची सी कमीज और घिसा घिसाया खाकी जीन का पतलून पहने मेरे सामने बैठा था। टेंटुआ बुरी तरह निकल आया था और जब ऊपर-नीचे जाता था, तो लगता था कि किसी उद्वेग को निगल रहा हो। धूल और पसीने से लदे छाती के बाल आपस में उलझे थे। कभी शरीर से चमेली के तेल की खुशबू गमका क़रती थी। सिर के एक-एक इंच खड़े बाल उसकी सूरत को एक अजीब वहशियाना रूप दे रहे थे। तभी कानों में छोटी-छोटी हीरे की मुरकियां झलमलाती थी। अब सिर्फ रूंधे छेद थे और सामने की ओर कान कुछ अधिक निकल आये थे। शरीर सूख गया था। कभी कॉलेज के लड़के कुंवर इंद्रजीत सिंह उर्फ लालू के नाम से थर्राते थे।

''लालू भाई, एक बार हो आओ न! पके आम हैं ये लोग। पता नहीं कब टपक पड़ें! अब जैसे हैं, वैसे हैं ही।'' मैंने कुछ रुककर फिर दुहराया, सोचा, शायद लालू ने सुना नहीं, ''रायसाब बाप हैं, लालू भाई!''

''कहाँ हो आऊं आखिर?'' अनखाकर लालू बोला, ''मार उन्होंने दुनिया-भर का तो कर्जा कर रखा है! जमींदारी के एवज में जो मिला, उससे ज्यादा वे मुकदमे-बाजी में फूंक चुके हैं। फिर पुराना कर्जा। किसी ने फार्म बना लिया,, किसी ने ट्रैक्टर चला लिये, लेकिन कक्का कुछ भी नहीं कर सकते। और करें कहां से? सारा तो गिरवी रखा है।'' फिर नकल उतराता बोला, ''बाप है।'' सिर झटका दिया और चुप हो गया। उसके कान के पास कनपटी पर एक गोली जैसी चीज खाल के भीतर हिल रही थी, ''उनका रोना सुनते-सुनते तो मेरे कान पक गये! वहीं बातें! 'लालू, पोते का मुंह देख जाऊं! उसके हाथ में इस खानदान की इज्जत को सौंप जाऊं, तो सुख से मरूं! वह तलवार कितनी कीमती है, तुम नहीं समझोगे। उसने बड़े-बड़े दिन देखे हैं! शहंशाह अकबर ने खुद अपने हाथ से वह हमारे पुरखों को दी थी, हल्दीघाटी की वीरता के उपलक्ष्य में! पंचहजारी का खिताब अता फर्माया था शहंशाह ने! इसकी मूठ पर कीमती हीरे जड़े थे किसी जमाने में, मखमली म्यान पर सोने का काम था!'' आल बकवास! आल रबिश!

मेरा तो खून सन्ना उठता है। बोलो, यह गद्दारी और जलालत है या वीरता? बड़े आये पंचहजारी वाले ओहदेदार!''

मैंन देखा, लालू के कान एक अजीब ढंग से तनकर कांपने लगे हैं। अब काले पड़ गये है, पहले जरा सी बात में झन्नाकर लाल हो जाया करते थे। अब लाली पता नही लगती। आंखें कैसी हमेशा चढ़ी रहती थीं। दंगों के दिनों में लालू शहर का 'टैरर' था। कॉलेज में और बाहर उसके बारे में यह बात वुरी तरह फैली थी कि एक ही बार में छुरा मारकर सारी आंतें खींच निकालने में लालू को कमाल हासिल है। पिस्तौल वह रख सकता था, लेकिन अक्सर खुलेआम कहा करता कि पिस्तौल से हत्या का रोमांस जाता रहता है। पीतल की बेंट का नौ-इंची चाकू हमेशा उसकी जेब में रहा करता था। जरा पीठ की कमानी दबायी नहीं, कि खट् से चमचमाता फल बाहर निकल आता। नगर के 'नवयुवक सेवकदल' का वह प्रधान चालक था और शिवाजी और महाराणा प्रताप की बातें करते करते उसकी आंखों से खून उतर आता था। और आज? गद्दारी, जलालत के शब्द उसी लालू के मुंह . .. .

एकदम मेरे मन में आया कि लालू से सारी पुरानी बातें पूछूं। पूछूं, वह आज इस होटल में कैसे आया, वे सब नक्शे क्या हुए? लेकिन यों बीच से एकदम तोड़ना उसके मानसिक प्रवाह के विपरीत होता।

लालू ने शायद यह भांप लिया कि मैं पिछले दिनों की बातें सोच रहा हूं। एक बार और देखकर फिर बाहर खोया-खोया सा देखने लगा। धीरे-धीरे बोला, ''जिस वक्त एक ओर खड़े होकर मैं एक एक हजार नौजवानों की रैली लिया करता था और घूंसा तान-तानकर कहता था, हम शिवाजी और महाराणा प्रताप की संतोनें हैं हमारे भीतर राम और कृष्ण का खून खौल रहा है, उस वक्त तुम सोच नहीं सकते, राजेन, शब्द मेरे मुंह से कैसे निकलते थे! मैं उन्हें ठेलता था और हर शब्द पर मुझे लगता, जैसे उस पंचहजारी तलवार को मेरे दिल पर रखकर कोई धीरे-धीरे रेत रहा हो! हमने महाराणा प्रताप के खिलाफ लड़कर यह तलवार पायी थी, जागीर पायी थी, अमरसिंह राठौड को पकड़वाकर उस तलवार की इज्जत रखी, और आज?'' उसके चेहरे पर बड़ी कड़वी और तल्ख मुस्कराहट आ गयी, ''तलवार! तलवार! तलवार! कक्का को उस तलवार का रोग है! लेकिन तुम हंसोगे, मुझे हर पल ऐसा लगता है, जैसे कोई उस तलवार को मूठ मेरे कलेज में धंसाकर मुझे मरने को छोड़ गया है! .. . बताऊं, उस तलवार की कहानी, जिसे आज भी हम लोग दशहरे पर रोली और चावल लगाकर पूजते हैं?''

सहसा उसने निचला होंठ निकालकर एक तरफ झटका और बताने लगा, ''औरों की तो मुझे याद नहीं है, दादा साहब को मैंने देखा था और उन्हीं की बात कहता हूं। सन् ग्यारह के दिल्ली दरबार में वे उस तलवार को बांधकर गये थे। हो सकता है, उनके बाप भी इस तरह विक्टोरिया के दरबार में गये हों। उसका वर्णन बचपन में दादा साहब जिस

तरह मूंछों पर ताव दे देकर करते थे, वह मुझे अभी तक याद है। आठ-दस साल का रहा होऊंगा। किस तरह खुद राजकुमार ने उनसे हाथ मिलाया था .. . और जानते हो, जिंदगी भर उन्होंने क्या किया था? सारे जीवन उन्होंने डाके डाले, लोगों को लूटा, हत्याएं की और घर जलाये थे! दुर्गा के बड़े भक्त थे! बस, उनमें एक ही अच्छाई थी, उन्होनें कभी परायी औरत को निगाह उठाकर नहीं देखा। इसके लिये उन्होंने अपने सगे भाई की गर्दन काट ली थी!''

''हें?'' मैं झटके से चौंक पडा।

अविचलित लालू बोलता गया, ''हां, अपने खास भाई की गर्दन उन्होंने उसी तलवार से उतार ली थी। कक्का बताते हैं एक बार दादा साहब, दल-बल के साथ एक बनिये के घर डाका डालने गये थे। चाभियां न देने पर वे गरम तलवार बनिये के शरीर पर छुला-छुलाकर उससे चाबियां मांग रहे थे। सब लोग उसे घेरे खड़े थे। तभी दादा साहब ने किसी औरत की चीख सुनी। दादा साहब का क़ायदा था कि औरतों के शरीर पर हाथ नहीं लगाते थे, वे उनसे सिर्फ मांगते थे। अगर वे नहीं देती थीं, तो उनके शरीर पर जितना जेवर होता, सब छोड़ आते थे। सारा दल उनके इस कायदे को मानता था। चीख सुनकर अचानक उनका ध्यान गया कि छोटे दादा साहब नहीं है। सबको छोड़कर वे भीतर लपके तो देखा कि छोटे दादा साहब एक लड़की से हाथापाई कर रहे हैं? उन्होंने वहीं रोका, 'क्या करता है, क्या करता है? हम लोग औरत के शरीर का गहना नहीं छीनते!' लेकिन अगले क्षण ही उनकी समझ में आ गया कि छोटे दादा साहब गहने नहीं छीन रहे थे .. . . दादा साहब की आंखों में खून उतर आया, 'हम लोग धन लेने आये हैं, दूसरों की बहू-बेटियों की इज्जत नहीं। और उन्होंने झपटकर एक ही बार में उनका सिर कलम कर दिया।. . . . जो हो, खून आखिर भाई का था, उसके बाद से कक्का बताते हैं उन्होंने डाका डालना छोड़ दिया। मगर ये तो मेरी मां की आंखों देखी बात है कि किस तरह अपनी किसान और बेगारी प्रजा को वे लाइन बनाकर मुर्गा बना देते थे, किसी को पेड़ से लटकाकर धूनी दिलाते थे और किसी के जूते लगवाते थे। लगान न देने पर उनकी पीठ पर अपनी उसी तलवार से लाइने खींचते थे और एक कारिंदा पिसी मिर्च छिड़कता जाता था.. . .।''

लालू इसके बाद फिर चुप हो गया। नीली-नीली उभरी नसोंवाला हाथ कसकर उसने सारे मुंह पर फेरा, बंद पलकों की भौंहें तानकर उंगलियों से मसलीं, तो माथे की सलवटें ऊपर उभर आयी, ''ये राव राजा सुमेरसिंह थे। .. . . अन्नदाता और धर्मप्राण! तुम कहोगे राजेन, लालू ऐसी बात कहता है, लेकिन सच कहूं, मुझे अपने कक्का से रत्ती भर भी प्यार नहीं है। अगर उनके लिये मैं कोई भी भावना अपने में महसूस करता हूं तो वह है घृणा। दुनिया में अगर मुझे किसी आदमी से दिली नफरत है तो इस आदमी से! लेकिन ट्रेजेडी यह है कि मैं इसे जबान पर नहीं ला सकता, वे मेरे बाप हैं। गढ़ी की एक

बहू-बेटी को तो उन्होंने छोड़ा होता? देश और जाति के गौरव ठाकुर गजराजसिंह को रायसाहब का खिताब लड़ाई में जबरदस्ती रंगरूट भरती करवाने, गल्ला वसूल करने, लड़ाई के लिय चंदा जमा कराने के एवज में मिला है! दिन भर 'पंचहजारी तलवार, पंचहजारी तलवार' रटते रहते हैं! सुनोगे? इस राक्षस ने मेरी माँ को मार डाला था, और उस लाश पर इनता इतना प्यार उमड़ा कि उसे सात दिन आंगन से उठने नहीं दिया। रोते रहे! जब जब इस बात को सोचता हूं तो मेरी सारी नसें ऐंठ जाती हैं!''

''माँ को?'' मुझसे बिना बोले नहीं रहा गया।

उसने मेरी बात नहीं सुनी। फड़कते नथुनों के साथ बोला, ''कितने पुरखों की करतूतें और कितने राव-राजाओं के पाप मुझ अकेले की आत्मा ढो रही है, इसे शराब में धुत पागल रायसाहब गजराजसिंह नहीं जान सकते। मैं पागल भी तो नहीं हो सकता! बचपन में मेरी मां को कोई पढ़ाया करता था, बाद में वह शायद कांग्रेस या क्रांतिकारियों के किसी दल में शामिल हो गया और पकड़े जाने से पहले मां की शादी के बाद, एक बार मां से मिलने आया। मैं ननसाल था। पता नहीं उसके और उसकी पार्टी के बारे में किसी ने क्या बता दिया कि इस राक्षस ने माँ को खाट से भूखा-प्यासा बांधे रखा और उस तलवार से ही कोंच-कोंचकर मार डाला। पूछता रहा, बता, लालू किसका लड़का है? बता, लालू किसका लड़का है? .. . जिंदगी -भर जो आदमी नंबर एक का पियक्कड़, ऐय्याश, बदमाश और बदचलन रहा हो, वह माँ से पूछता है, लालू किसका लड़का है? जब मीनाबाजार में तुम्हारी बहू-बेटियां दुकानें सजाकर बैठी रहती थीं, उस वक्त नहीं पूछा था कि शहंशाह ने जिसके हाथ में पंचहजारी की मूठ थमा दी है, वह लड़का किसका था? अमीरन बाई किसकी लड़की थी कि जिसके यहां सारी जिंदगी पड़े रहे और बाद में धक्के देकर निकाले गये? दिन भर मुकदमे बाजी करने और रात में रंडीबाजी करने वाला दूसरे के चरित्र पर उंगली रखता है! घर-बार बेचकर, गिरवी रखकर शहर में आते थे मुकदमों की पेशी और रातों को मुजरे होते थे। दूसरे दिन डिगरी हो जाये, तो हुआ करे!.. . . आज बेटा लालू याद आ रहे है!'' लालू सहसा अपनी उत्तेजना पर सचेत होकर चुप हो गया। लेकिन जैसे सांस लेने के लिए रुका हो, इस तरह बोला, ''तुम कहोगे, मैं कैसी बातें करता हूं? लेकिन मैं दिल से चाहता हूं कि भगवान करे, मैं इस निकम्मे-कमीने की औलाद न होकर उसी भली आदमी की औलाद होऊं, जिसे इन्होंने घर से निकलवा दिया था और रास्ते में लठैतों से उसका सिर फुड़वा दिया था, जिसके लिए इन्होंने मेरी मां को मार दिया था। अब लालू याद आ रहे हैं! लेकिन मैं तो इनका बेटा हूं ही नहीं! हाँ, उनके पुरखों की नाक, उनकी खानदानी इज्जत जरूर मेरे पास है!''

पता नहीं जो कुछ वह कह रहा था, उसमें कितना अंश आवेश और उत्तेजना का था और कितनी सच्चाई थी, लेकिन मुझे लगा कि लालू बहुत ज्यादा अव्यवस्थित और

उद्विग्न हो उठा है। पता नहीं, किन मानसिक संक्रमणों से गुजरा है बेचारा! मैंने उसके कंधे को थपथपाया। सांत्वना देते हुए कहा, ''नहीं, लालू भाई, जो हुआ सो ठीक है। अब छोड़ो सब .. .''

लालू झेंप गया। अचानक ठंडा पड़कर बोला, ''होने को अब मैं तलवार लेकर अपने एक-एक पुरखे से जवाब-तलब करने तो जाने से रहा, लेकिन जब सब बातें सोचता हूं तो आंखों के आगे से एक खून टपकती फिल्म गुजरने लगती है। ये पुरखों का नाम ले-लेकर जीने वाले, आने वालों के लिए कैसी भीषण मानसिक यातनाएं छोड़ जाते हैं, कभी नहीं सोचते! मुझे तो लगता है, सारी मेरी जिन्दगी अपने और अपने विरासत में मिले संस्कारों से लड़ने में ही जायेगी!''

मेरी राय की थोड़ी देर राह देखकर लालू एक बड़ी करुण सी हँसी हँसा, ''और इस मानसिक संघर्ष की शुरुआत भी इसी कंबख्त तलवार ने की। तुम्हें याद है, दंगों के दिन में नवयुवक दल के जत्थे सारे हिंदुस्तान से पंजाब भेजे गये थे। मैंने इधर मेवों के गांवों को जलाने और उन्हें मारने में बड़ा नाम कर लिया था। सो मुझे भी एक जत्थे का इंचार्ज बनाकर भेजा गया। मैं जिन लोगों के साथ था, उन्होंने एक गांव जलाया और आखिर में वहां के सबसे खाते-पीते आदमी के यहां धावा बोला। गांव के काफ़ी आदमी वहां जा छुपे थे। थोड़ी देर तो उन्होंने मोर्चा लिया, लेकिन हम लोगों के सामने कितनी देर ठहरते। भाग खड़े हुए। पकड़े गये, वही हत्याएं, रोना गिड़गिड़ाना, बेहोश होना। लूट और मार-पीट। तभी किसी ने बताया कि पुलिस और फौज आ रही है। यों फौज हो या पुलिस, हमें डर किसी का नहीं था क्योंकि अक्सर वे लोग भी अपने ही लोग होते थे, और खड़े-खड़े मजा लिया करते थे। वे हमें उत्तेजित ही नहीं करते, बल्कि हथियार भी दिया करते थे कभी-कभी। लेकिन पता नहीं, यह कौन सी फौज हो, इसलिये पहले हट जाना जरूरी था। तभी एक दरवाजा तोड़कर मेरे साथियों ने एक नौजवान लड़की को पकड़ लिया। साथ में सभी तरह के थे। उसके गहनों को लेने के लिये उसी समय लूट मच गयी। नाक चिरी या कान फटा, इस पर ध्यान देने की फुर्सत किसे थी। मैं मुखिया हूं, यह सोचकर उसने मेरे दोनों पांव पकड़ लिये। वे अंधे राक्षस उसे खींच रहे थे, मैं जानता था कि उसका अब क्या होने को है। हमारी 'फौज' के लोग अचानक बेकाबू न हो जायें, इसलिये उन्हें उसकी भी छूट देनी पड़ती थी। 'मैं तुम्हारी गाय हूं, मैं तुम्हारी मां हूं, बहन हूं!' इन सारे शब्दों का अर्थ हमारे लिए अब कुछ भी नहीं रह गया था। लेकिन उस कमजोर लड़की के नाजुक और निर्जीव हाथों की पकड़ भी गजब की थी कि चार-चार आदमी उसके हाथ-पांव पकड़कर खींच रहे थे और वह मेरे पांव नहीं छोड़ रही थी।'' फिर तभी सुना कि फौज बिलकुल ही छाती पर आ गयी है और उसमें अपने पक्ष के लोग नहीं है। अब तो हट जाना बहुत ही जरूरी हो गया। उधर लड़की पांव नहीं छोड़ रही थी- 'मैं तुम्हारी बहन हूं! मुझे बचाओ! तुम जो कहोगे, मैं करूंगी, इन जानवरों से

मेरी रक्षा करो!' आखिर तलवार के एक ही वार में उसकी कलाई खट से अलग हो गयी और मैं चला आया, लेकिन तुमसे सच कहता हूं राजेन, आज भी मैं अचानक चौंक उठता हूं। लगता है, वे हाथ मेरे पांव पकड़े हुए हैं! मुझे एक कदम चलने नहीं देंगे। फौरन ठिठक जाता हूं. . . . उन दिनों तो वे हाथ मुझे रात-दिन पकड़े रहते थे, जैसे उन हाथों में कसाई से कटती गाय की दो आंखें उग आयी थीं, जो मुझे लगातार देखा करती थीं!. .. . ओफ़!''

हारे और टूटे आदमी की तरह लालू ने माथे पर हथेली रखकर एक गहरी सांस ली, जैसे ये सारी बातें आज भी भीतर से उसे मथ रही हैं।

वह बोला, ''तुम सोच नहीं सकते राजेन, मैं कितनी मानसिक यातनाओं से गुजरा हूं। कॉलेज में इंटर भी तो पास नहीं कर पाया, किसी काम में भी तो दिलचस्पी नहीं ली और तुम्हीं बताओ, आज एक केवल मैट्रिक पास की कीमत क्या है? वह दरबान हो सकता है या चपरासी। फिर जब आप यह जान लें कि किसी बात का कारण क्या है, तब जिस दर्द को महसूस करते हैं उससे ज्यादा सर्वग्रासी दर्द दूसरा नहीं होता। जिसकी हर टीस आपकी असामर्थ्य और क्षमताहीनता का प्रमाणपत्र होती है।. . . . तुम समझो, इस बंबई में ही मैं चाहता तो क्या नहीं हो सकता था- रंडियों का दलाल या दादा .. . . ?''

''तो क्या यहां अकेले ही रह रहे हो?'' मैंने बात को जरा हल्के स्तर पर लाने के लिये प्रश्न किया।

इस बात पर लालू बड़े आत्मीय ढंग से हँस पड़ा। अपने खुले बटनों वाली छाती की ओर इशारा करके बोला, ''घरबार वाला लग रहा हूं क्या?''

''नहीं, यों ही मैंने पूछा। सोचा, शायद वाइफ को ले आये हो।''

उसने दोनों हाथ मजबूरी के अंदाज में फैला दिये, ''पता नहीं, उससे तो, दसियों वर्ष हो गये, कोई सम्पर्क ही नहीं रह गया। पता नहीं, मरी या जीती है! हुक्का पीती थी, बस इसी पर छोड़ दिया। कोई कहता है कि उसे तपेदिक हो गया और मर गयी, कोई बताता है, उसने दूसरी शादी कर ली है और उसके बच्चे भी हैं। अभी पिछले महीने किसी अखबार में बाहर टीचिंग का एडवांस कोर्स करने जाने वाली एक लड़की की तसवीर और नाम देखकर लगा, शायद यही हो। .. . . जो हो, अपने को कुछ भी पता नहीं।'' निहायत गैरदिलचस्पी और निश्चित तटस्थता से उसने बताया।

और तब अचानक मुझे ध्यान आया कि बहुत देर हो गयी है। फिर भी इतनी देर बाद मिले हैं, कैसे कहूं? तभी एक घटना हो गयी।

होटल के एक बैरे ने आकर धीरे से कहा, ''इंदर, आज क्या बैठा-बैठा गप्प ही करेगा? मनीजर बोलता है, काम नही करना क्या?''

एक आशंका से मेरा दिल धक्-धक् करने लगा। कहीं अभी लालू इसे उठाकर बाहर न फेंक दें, और मैंनेजर के सिर पर सारे बिस्कुटों के अमृतबान न फोड़ डाले! . . .. होस्टल में उसका अपना अलग एक कहार नौकर था। पांव दबाते-दबाते एक बार ऊंघ जाने पर लातों और घूंसों से उसे अधमरा कर डाला था।

लेकिन लालू ने बड़े इत्मीनान से उठते हुए कहा, "अच्छा, अभी आते हैं। दस-ग्यारह साल बाद अपने देश का आदमी मिल गया है।" उठते-उठते बोला, "अच्छा, राज़ेन, अब घर की तरफ कब जाओगे? आना एक बार इधर .. . . ।"

"क्यों, कुछ भेजना या कहलवाना है क्या?" मैंने बहुत ही आत्मीयता और दोस्ताना ढंग से कहा, "जरूर आऊंगा, ऐसी भी क्या बात है?"

"हां, अगर जाओ, तो कक्का से कह देना कि उस तलवार को मैंने तोड़ डाला है। पुराना होते हुए भी इस्पात बहुत अच्छा था, इसलिये फेकने को मन नहीं हुआ। उसके उस्तरे बनवा लिये हैं। एक पास रखकर बाकी सब चाल वालों में बांट दिये हैं। बहुत ही अच्छे चलते हैं। एक बार धार दे दो, बस, हफ्ते भर जरूरत नहीं पड़ती। . . . . उस तलवार की जंग लगी मूठ से, जिसमें कभी हीरे जड़े रहे होंगे, मैंने बच्चों को जब गिल्ली डंडे के लिये गड्ढा खोदते देखा तो सोचो, क्या-क्या-क्या बातें मेरे दिल में आती होगी? .. . . और अच्छा हुआ, यार, मैनें उसे तोड-ताड़ दिया। उस तलवार ने सिर्फ अधिकार ही अधिकार तो जाने थे!"

पता नहीं दर्द से मेरे दिल का तार-तार झनझना उठा या लालू के चेहरे का रेशा-रेशा ऐंठता सा लगा। मैंने ठंडी सांस ली और फिर हम लोग चुपचाप एक दूसरे से विदा हो गये। . . . सिर्फ एक हिम्मत बंधाती सी मुस्कराहट का दर्द उसके होंठो पर फैला था। मुझे लगा, जैसे उसने अपनी दोनों हथेलियां मेरे सामने खोलकर दिखायी हों, देखो मेरी दोनो हथेलियों में घाव हो गये हैं, वे लहूलुहान हो गयी हैं, लेकिन मैंने उस पंचहजारी तलवार को तोड़ दिया है! तोड़ दिया है न. . . .

मुझमें अब इतनी हिम्मत नहीं है कि लालू से फिर जाकर मिलूं . .. . .

वैतरणी

विजयदान देथा

राजा माने सो रानी। बादल बरसे सो पानी। तो भगवान भले दिन दे कि एक था जाट। गाँव से थोड़ी दूर वह एक ढाणी में रहता था। पीढ़ियों से खेती-बाड़ी का धन्धा। पर इस बेभरोसे के धन्धे में कई खास बरकत नहीं हुई। जैसे-तैसे गाड़ी घिसट रही थी। पेट में गाँठें और गले में फंदा। खेत-खलिहान के झंझट से मौत के अलावा कभी मुक्ति नहीं मिलती थी। इसलिये रामनाम और भजनभाव में मन लगाना पड़ता था। वीणा के तारों की झनकार से हृदय में अदृश्य सुख की हिलोरें उठती थीं। चौधराइन के गुजरने के बाद चौधरी का मन घर-गृहस्थी से बिलकुल उचट गया। दूसरी औरत बिठाने के लिये नाते-रिश्तेदारों ने बहुत कहा, पर चौधरी नहीं माना। हर बार यही जवाब देता कि एक बार पछताया वही बहुत है। पहले तो अजाने खाई में गिरा। अब जानते बूझते गलती नहीं करूंगा। अपने सुख के लिए चार नन्हें बच्चों को सौतेली माँ के हवाले कैसे करे! सुख का तो फकत नाम ही सुना है। दुःख और अभाव मिलकर भुगतें अब तो यही सबसे बड़ा सुख है। वीणा को जीवन-साथी बनाया है सो मरते दम तक साथ निभाएगा।

नाते रिश्तेदार मसखरी करते कि अभी तो सर में एक भी सफेद बाल नहीं आया।

चौधरी हाथ जोड़कर कहता, ''काले-सफेद का फर्क तुम्हें दिखता होगा मुझे नहीं।''

तब कोई हमउम्र चुटकी लेता, ''यों आँखें मूँद कर अंधेरा करने से कैसे चलेगा! अगर ढलती उम्र में मुँह काला हो गया तो?''

चौधरी मुस्कराकर जवाब देता, ''डरो मत, कालिख पोंछने के लिए तुम्हें तकलीफ नहीं दूँगा। वीणा ने इतने बरस मेरी लाज रखी है वही आगे भी रखेगी।''

और सचमुच चौधरी वीणा के सहारे दुर्गम घाटी पार कर गया। पर चाहे जितना संयम रखा हो, काले बालों को बखत के हाथों रंग बदलना ही पड़ा। चारों बाल-गोपाल बखत और हवा के थपेड़े खा-खाकर बड़े हो गए। जैसे खेजड़ी, फोग और नीम बड़े होते

हैं वैसे आप ही बड़े हुए। बखतसर चारों का ब्याह हुआ। चौधरी बाबा के घर में चार बहुएं। पाँच पोते-पोतियां। धन्धा वही कदीमी। खेत-झंखाड़ से लठम-लठा। और रात को ब्यालू के बाद वीणा पर भजनभाव। बड़े तीन बेटे हूबहू बाप पर गए, पर सबसे छोटे बेटे का रंग-ढंग कुछ अलग था। भगवान जाने क्यों भजनभाव में उसका मन ही नहीं रमता था। दिन के उजाले में काम और रात के अंधेरे में नींद। और नींद में हमेशा एक सरीखे सपने बाड़े में सफेद गाय। सफेद बछिया। चारों थनों से झरती सफेद धारें। हाण्डियों में सफेद दही। झरड़-झरड़ बिलोना। घी। छाछ-राब। नाँद पर रँभाती गाय। कच्ची ज्वार के चारे के कूतर। सुथराई से जमाए उपलों का पिंढ़ारा। कभी कभी सपने के बीच में नींद उचट जाती। फिर जागती आँखों वहीं धुँधला-धुँधला सपना। किसे अपने मन की उलझन बताए? एक दिन हिम्मत करके घरवाली से सपने का अर्थ पूछा। गँवार बहू सपने का अर्थ क्या जाने! साफ और सीधी बात कही कि वह गाय खरीदना चाहे तो वह पीहर से लाई अपनी हँसुली देने को तैयार है। गाय न खरीदकर वह सपने का मतलब ही जानना चाहे तो पण्डित से पूछे।

खुशी से बौराया पति उसके गाल सहलाते हुए बोला, ''अब मुझे मतलब पूछ कर क्या करना है! तू तो तू ही है। तेरे जैसी घरवाली बड़े भाग से मिलती है।''

उसके बाद घर में किसी से कहे सुने बिना ही छोटे बेटे ने आसपास के गाँवों और ढाणियों में ढूँढ़-ढाँढ़कर हूबहू सपने सरीखी सफेद झक गाय खरीदी। गीतों से बधाकर घर में लिया। हाथ के गुलाबी छापे लगाए। नाम रखा- बगुली। बगुलों को भी मात करे जैसा सफेद रंग। रेशम जैसी कोमल रोमावली। छोटा मुंह। कुण्डलिया सींग। छोटे कान। छोटी दन्तावली। सुहानी गलकंबल। चौड़ी माकड़ी। छोटी तार। पतली लम्बी पूँछ। एक सरीखे गुलाबी थन।

बाड़े में खूँटे पर गाय क्या बंधी जैसे मनुष्य योनि के सारे सुख और सारी आशाएँ रँभाने लगीं। घर में नई चाल-चोल हो गई। कोई गलकंबल सहलाता। कोई थुई और पुट्ठों पर हाथ फेरता। कोई पूँछ के बाल सहलाता। छोटा बेटा अपने प्राणों से बढ़कर बगुली की सार-सँभाल करता था। खेजड़ी और बबूल की फलियों और बेर-खेजड़ी के पान का ढेर लगा दिया। खेतों में साथ ले जाता। अपने हाथों से टोकरियाँ गूँथीं। खुली आँखों का सपना साथ हो तो कोताही कैसी!

एक बाँभन चौधरी बाबा का गुरु था। उसी की संगत से उसे भजनभाव और रामनाम की सनक सवार हुई थी। चार-पाँच दिन में ढाणी का चक्कर लगा लेता था। बगुली को देखा तो उसकी छवि हृदय में उतर गई। बिना कहे सगुनी गाय के लिए पंचांग देखा। घर में उसके आगमन का बखान किया। बाबा की मुक्ति बगुली के प्रताप से ही होगी। आखिर रामनाम का फल मिलकर ही रहता है।

पहले पण्डित चार-पाँच दिन में आता था। अब एक दो दिन में आने लगा। अपने लंगोटिया बाबा से गपशप करता। बाबा भी पण्डित का मन रखता था। उसी ने उसे परलोक का सुरंगा बगीचा दिखाया था। नहीं तो दु:ख भरा जीवन काटना दूभर हो जाता।

एक दिन बगुली के बदन पर ठौर-ठौर हाथ के काले छापे देखे तो छोटे बेटे ने अपनी स्त्री से इसका कारण पूछा। उसने पति से कुछ नहीं छुपाया। साफ-साफ बताया कि पण्डित बार-बार बगुली को ललचाई नजर से देखता है। नजर लगने से बचाने के लिये नहीं चाहते हुए भी काले छापे लगाने पड़े।

सुनकर एक बार तो उसके हाथों के तोते उड़ गए। पर अगले ही क्षण आपा सँभाल लिया। बोला, ''बगुली को नजर लगाए तो मुझे जानता ही है! बाँभनिए की आँखें नहीं फोड़ दूँ!''

घरवाली ध्यान से इधर-उधर देखकर बोली, ''धीरे बोलो! बाबा ने सुन लिया तो गुस्सा होंगे। लंगोटिए गुरु के लिए कुछ कहना उन्हें बिलकुल नहीं सुहाता।''

पति और भड़क गया, ''गुरु है तो अपनी ठोर है। मैं क्या डरता हूँ!''

घरवाली मुस्कराते हुए बोली, ''डरते नहीं सो तो ठीक है, पर बगुली आज-कल में ब्याने वाली है। सुवावड़ का इन्तजाम करो!''

गहरा नि:श्वास छोड़ते हुए पति ने कहा, ''साहूकार के सिवा कोई चारा नहीं। बखत-बेबखत ये साहूकार ही काम आते हैं।''

घरवाली ने टोका, ''साहूकार की पेढ़ी पर न चढ़ो तो अच्छा है। मेरी ये टोटियाँ और बोर . .. . ''

पति बीच ही में बोला, ''ना, तेरे सुहाग की निशानी मरकर भी गिरवी नहीं रखूँगा।''

पति के हठ के आगे पत्नी को झुकना पड़ा। और रास्ता ही क्या था! सो पति को साहूकार की पेढ़ी पर जाने देने के लिए राजी हो गई।

पर उसके राजी होने से क्या होता है? हकले साहूकार ने साफ मना कर दिया कि गाय को देखे बिना उधार सुवावड़ नहीं देगा। छोटे बेटे ने बगुली के बहुत बखान किए, पर साहूकार को तो अपने कपड़ों पर भी भरोसा नहीं था। पर बगुली को देखते ही वह तुरन्त मान गया। जो कहे सुवावड़ तैयार-बाजरा, गुड़, नारियल, और मेथी। बिनौले ले तब भी उसकी ना नहीं।

सेठ की बदनीयती को ताड़कर बहू के अंग-आग लग गई। जोर से बोली, ''बगुली को देखकर तुम्हारी ना क्यों होगी, मेरी ना है। साहूकार की बही में फँसने से तो जिन्दा जलना अच्छा है। तकलीफ के लिए माफी चाहती हूँ, हमें सुवावड़ नहीं चाहिए।''

आगे विवाद करने के लिए पति की हिम्मत नहीं हुई। चुपचाप टोटियाँ और बोर लेकर चला गया।

लगातार तीन रात जागने पर भी पति-पत्नी को रत्ती भर भी जागरण महसूस नहीं हुआ। हूबहू अपनी शक्ल सुरत की बगुली ने बछिया जनी। दूज का चाँद ही बढ़ते-बढ़ते पूनम का चाँद बनता है। घरवालों की खुशी का पार न था। बगुली के दूध की धार के बहाने जैसे सबके हृदय में हर्ष का झरना बहने लगा।

दूध के लोभ में पण्डित सुबह-साँझ ढाणी का चक्कर लगाने लगा। बहू के कहने से आते ही बगुली को नजर लगने से बचाने के लिए तीन बार थूकता था। बगुली जैसे कामधेनु का ही अवतार। दोनों बखत दस-दस सेर दूध देती थी। चक्की सरीखा गाढ़ा दही। हल्दी जैसा पीला घी। छाछ-राब की इफरात। छोटे बेटे का सपना तो खूब ही फला!

सफेद दाढ़ी को घड़ी-घड़ी सुलझाते हुए बाबा मन ही मन सोचा करता कि ऐसे आनन्द के बिना जीना व्यर्थ है। सारी उम्र कितना दुःख भुगता! सुख की इस अन्तिम झलक से पिछला दुःख उलटा अधिक उजागर होता है। अब अगला जन्म सुधारने से पिछला घाटा पूरा हो तो हो। भजनभाव और रामनाम के अलावा कोई सहारा नहीं। बचपन का मित्र बाँभन बाबा को धर्म का झीना मर्म समझाता था। बगुली के दूध-दही के लोभ में कभी नागा नहीं करता था।

बूढ़े बाँभन की आँतें आसीस देंगी यह सोचकर घर में बाँभन के लिए किसी ने एतराज नहीं किया। बिना माँगे ही बगुली के दूध में उसका हिस्सा हो गया।

सुख से दिन कट रहे थे। संजोग की बात कि एक दिन बाबा बीमार पड़ गया। भरपूर उम्र पाई। मरना तो था ही। बाबा का प्राण आँखों में अटका हुआ। जीभ मोटी हो गई। बूढ़े बाँभन ने मुक्ति के लिए पंचामृत पिलाया। अब तो घड़ी-पलक की देर। बाबा के कहने पर सबने श्रद्धा अनुसार दान-पुण्य उसके कानों में डाला। किसी ने ग्यारस बोली तो किसी ने अमावस। छोटे बेटे ने पाँच हाण्डी दूध-दही बोला। किसी ने धड़ी गुड़ तो किसी ने मन बाजरा बोला। तब भी बाबा की सांस वहीं अटकी हुई। आँखे डबडबा गईं। इतने बरस बचपन के मित्र से धर्म की झीनी बातें सुनी हुई थीं। अट्ठासी योजन चौड़ी वैतरणी पार होना दूभर है। फिर उसकी मुक्ति कैसी होगी? अगला जन्म भी बिगड़ा इसमें शक नहीं। भरे गले से गिड़गिड़ाया, ''वैतरणी आड़े आ रही है। इसे पार करने की जुगत बता! नहीं तो मेरी गति नहीं होगी।''

बूढ़े बाँभन के रहते मित्र की गति न हो यह कहीं हो सकता है भला! जोर से बोला, ''बगुली की पूँछ पकड़ने से चुटकियों में वैतरणी पार हो जायेगी। बगुली का दान किए बिना बाबा की मुक्ति नहीं होगी।''

छोटे बेटे के माथे में जैसे सुरंग छूटी। घबराकर बोला, ''मैं लम्बी पूँछ की कोई बूढ़ी ठाड़ी गाय दान कर दूँगा।''

बूढ़ा बाँभन सर धुनते हुए हौले से बोला, ''वैतरणी की लहरों में ऐसी-वैसी गाय नहीं टिक सकती। बगुली का गऊदान करने पर ही बाबा की मुक्ति होगी।''

बाबा की आँखों से झरझर आँसू बहने लगे। छोटे बेटे की ओर हाथ जोड़कर बोला, ''मैं वैतरणी में डूब रहा हूँ। ठौर-ठौर मगरमच्छ काट रहे हैं। अपने बूढ़े बाप पर कुछ तो दया कर!''

ऐसी याचना के उपरांत सोचना कैसा! बगुली के दान का बोल कान में पड़ते ही बाबा की मुक्ति हो गई।

रात पर रात ऐसे आती है। दोहरे आघात से घर में त्राहि-त्राहि मच गई। बाबा से भी बगुली का दुःख अधिक था। सूना बाड़ा। सूनी नाँद। सूनी गोवणियाँ। सूनी हाण्डियाँ। और सूना बिलोवना। खुली आँखों यों सपने के भस्म होने का दुःख बहुत भयंकर होता है। न दिन का चैन और न रात को नींद। बच्चे हर घड़ी बगुली के लिए मन-ही-मन रोते थे। न पानी का होश था न रोटी का। सूना खूँटा जैसे छोटे बेटे की छाती में रुप गया हो। घरवाली सुबकती हुई उसके पास आई। कहने लगी, ''बनिए की छुरी से तो बगुली बच गई, पर बाँभन बगुली को डंके की चोट पर डकार गया।''

''डकार गया? डकार गया कैसे? बगुली तो वैतरणी के उस पार गई। नहीं तो बाबा वैतरणी पार कैसे करता!''

घरवाली ने एक जलता हुआ निःश्वास छोड़ा। कहा, ''ये तो बाँभनों की बातों की वैतरणियाँ हैं। बनिए की बहियाँ भी उनका मुकाबल नहीं कर सकतीं। बगुली तो पण्डित जी के बाड़े में बँधी है। मैं रात को ही उसका लाड़ करके आई।''

फिर तो छोटे बेटे से एक पल भी रुका नहीं गया। धोती के पाँयचे ऊपर खोंसकर दौड़ा सो बाँभन के घर जाकर ही दम लिया। पत्नी ने सच कहा था। 'बगुली-बगुली' कहते ही वह जोर से रँभाई। रस्सी तुड़वाकर स्वामी की ओर दौड़ी। उसने एक बार फिर खुली आँखों अपने सपने को गले लगाया।

घबराए हुए पण्डित ने रास्ता रोका तो उसे धक्का देकर गिरा दिया। बछिया और बगुली को हाँकते हुए बोला, ''वैतरणी के पार गया बाबा वापस तो आने से रहा! अब हमें दुनिया की वैतरणी पार करनी है। बगुली के दूध के बिना वह पार नहीं होगी। खरबदार, मेरे धर की ओर मुंह भी किया तो सीधा हरिद्वार पहुंचा दूँगा।''

कोफी अवूनूर की तीन कविताएँ

पुनर्ज्ञान

जब तट पर हमारे आंसू सूख जायेंगे
और मछुआरे जाल समेट कर चले जायेंगे घर
समुद्री परिन्दे पक्षियों के द्वीपों को लौट जायेंगे
और रात को बच्चों की हँसी कम होती चली जायेगी
वहाँ तब भी हमारा भाईचारा बचा रहेगा जिसे गढ़ा या हमने
एक होने का उत्सव जिसमें हम सब थे
वहाँ तब भी एक शाश्वत संतरी खड़ा रहेगा
जो कब्रिस्तान के दरवाजे बंद करेगा
और देर से मातमपुर्सी को आने वालों को लौटा देगा
यह वह संगीत नहीं हो सकता जो हमने उस रात सुना था
जो अब भी व्याप्त है स्मृतियों में
यह हमारे विस्मृत साथियों का नया वृन्द गान है
और हमारे नये गुलामों का प्रार्थना गीत

स्वदेश में जमीन को निगल जाता है समुद्र

स्वदेश में समुद्र शहर में होता है
रसोइयों में आता-जाता
अंगीठी से लकड़ियों को इकट्ठा करता
और रात में लौटा देता उन्हें
स्वदेश में समुद्र ज़मीन को निगल जाता है

वह आया एक दिन रात खत्म होते होते
सीमेंट की दीवारों को तोड़ता
ले गया कुक्कटों को अपने साथ
बर्तन-भांडे और करछुली
स्वदेश में समुद्र जमीन को कुतरता है
व्यर्थ है रोने-पीटने की आवाज
स्त्रियों के विलाप को सुनना दुखद है
वे अपने सभी आराध्य देवताओं को पुकार रही थीं
कि बचा लें उन्हें क्रुद्ध समुद्र से
अकू भी बाहर खड़ी रही अपनी देगची के पास
सर्दी में कंपकंपाती अपने दो बच्चों के साथ
छाती पर बांधे दोनों हाथ
रोती और बिलखती
पुरखों ने तो की थी उपेक्षा
उसके देवताओं ने भी त्याग दिया उसे
यह इतवार की सर्द सुबह थी
और प्रचंड था तूफान
बकरियां और कुक्कट पानी में डूब उतरा रहे थे
निर्दयी समुद्र की कुपित लहरों में
तट पर सिर पटकता तूफानी जल था
सुबकियों और घुटी हुई कराहों से
कहीं ज्यादा थी दहाड़ते समुद्र की हुंकार
उसने उनका सामान झपट लिया था
भदेना के भी मामूली से गहने खो गये
उसका सहेजा हुआ दहेज उसकी खुशी
समुद्र स्वदेश में जमीन कुतर लेता है
पूरी की पूरी ज़मीन निगल जाता है स्वदेश में

मैं सपनों को थामे रहता हूँ

उत्सवों से विरूपति कहकहे
बाद में एक आत्मपीड़क विरेचन
और हम सो जाते हैं
बेंजनी रंग के स्वर्ग के सपने देखते
मसखरों की बाहों में
नग्न कुमारिकाओं के सपने देखते

दुर्गंधित वमन
आकाश की सीवन को फाड़ता हुआ
तेज और कर्कश संगीत
पशुबलि की गंध
जैसे कि ईश्वर
सांस छोड़कर अपने भीतर खींच लेता हो
डबलरोटियों की बारह टोकरियाँ

अकेली सेना
शहर की गलियों में खो गयी है
सूर्यास्त के अपने अंतिम गीतों को गाती
आनंद, बन्धुओं आनन्द
जागने का आनन्द
श्वास लेने और एक और सुबह
के लिए धन्यवाद

(अनुवाद : विजय कुमार)

स्मृति

कोफी अवूनूर-एक विलक्षण काव्य - प्रतिभा का दुखद अंत

विजय कुमार

घाना के शीर्ष कवि और उपन्यासकार कोफी अवूनूर की नैरोबी के नर-संहार में दुखद मृत्यु के साथ अफ्रीका ने अपने एक सबसे मौलिक और जीवंत रचनाकार को खो दिया है। गत 21 सितम्बर को नैरोबी के वेस्टगेट शॉपिंग मॉल में 'अल शबाब' गुट के इस्लामिक आतंकवादियों ने जो हमला किया उसमें मारे गये लोगों में यह प्रख्यात अफ्रीकी साहित्यकार भी था। कोफी अवूनूर नैरोबी में 'स्टोरीमोजा हय फेस्टिवल' नामक चार दिन के साहित्य-उत्सव में भाग लेने गये थे। जिस सुबह उनकी हत्या हुई उसी दिन शाम को कार्यक्रम में उन्हें अपना रचना-पाठ करना था।

78 वर्षीय कवि, उपन्यासकार, नाटकार, अभिनेता, शिक्षक, राजनीतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ, कोफी अवूनूर अफ्रीका के उन सबसे महत्वपूर्ण समकालीन रचनाकरों में से थे जिन्होंने अफ्रीका के औपनिवेशिक अतीत और उत्तर औपनिवेशिक समय की तमाम जटिलताओं को देखा और व्याख्यायित किया था। वे अपने रचना- संसार में जातीय अनुभव और स्मृतियों तथा आत्मसात की गयी यूरोपीय परम्पराओं के द्वंद्व और तनाव को एक सघन कलात्मक अनुभव में रूपांतरित करते हैं।

1935 में वेटा गोल्ड कोस्ट (अब घाना) में जन्मे अवूनूर की कविताओं का व्यापक रूप से अनुवाद हुआ है। विश्व-कविता के अनेक महत्वपूर्ण संचयनों में उनकी कविताएँ मौजूद हैं। उनकी शिक्षा दीक्षा घाना और लंदन के विश्वविद्यालयों में हुई थी। स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ न्यूयॉर्क से उन्होंने तुलनात्मक साहित्य पर डॉक्टरेट की उपाधि पायी थी वे कुछ समय तक घाना और पश्चिम के विश्वविद्यालयों में पढ़ाते रहे। वोल सोयिंका, चिनुआ अचेबे, ऑकोट पिब्तेक, न्यूगी वा थियोंगो जैसे अपने कुछ समकालीन अफ्रीकी रचनाकारों की तरह कोफी अवूनूर अंगेरेजी में भी लिखते रहे और अपनी देशज जमीन और जातीय परम्परा से भी गहरे जुड़े रहे। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि

इसी के बल पर उन्होनें अंग्रेजी में अपनी अभिव्यक्ति को एक नया संस्कार दिया था। 'रिडिस्करी एंड अदर पोयम्स (1964), नाइट ऑफ माइ ब्लड (1971), हाउस बाइ सी (1978), लेटिन अमेरिकन एंड कैरिबियन नोटबुक (1992), उनके चर्चित कविता संग्रह हैं।, 'दिस अर्थ माइ ब्रदर' (1971)तथा 'कम्स द वॉयेजर एट लास्ट' (1992) उनके उपन्यास हैं।

दूसरे महायुद्ध के बाद घाना नाइजीरिया, उगांडा, जाम्बिया आदि नव-स्वतंत्र अफ्रीकी देशों में वोल सोयिंका, गेब्रियल ओकारा, क्रिस्टोफर ओकिग्बो, चुनुआ अचेबे, लेनरी पीटर्स, कोफी अवूनूर आदि के रूप में आधुनिक कवियों की जो नयी पीढ़ी उभरी वह कवियों की उस पूर्ववर्ती पीढ़ी के कवियों से अलग थी, जिसने औपनिवेशिक दासता के विरुद्ध संघर्ष किया था। इस पीढ़ी के सरोकार उत्तर-औपनिवेशिक समय के सरोकार रहे हैं। अफ्रीका के इन नव स्वतंत्र देशों में स्वतंत्रता के बाद का एक पूरा दौर मोहभंग की स्थितियों से होकर गुजरा है। तानाशाही, निरंकुश और कठपुतली सरकारें, फौजी बगावतें, तख्ता-पलट, राजनीतिक हत्याओं और गृहयुद्धों का एक खूनी दौर इन देशों में देखा है। कोफी अवूनूर जैसा कवि नव स्वतंत्र देश के आधुनिक रचनाकार की उस जटिल स्थिति से दरपेश होता है। जहां उसका व्यक्तित्व विभाजित है। एक ओर पश्चिमी प्रभावों की अनिवार्यताओं से वह बच नहीं सकता और दूसरी ओर अपनी जड़ों की ओर लौटने की एक तीव्र उत्कंठा उसके भीतर है। अपने लोक जीवन, जातीय परम्परा की लय, प्राचीन मिथकों और जीवन-विश्वासों की पुनर्खोज व इन्हें जांचने परखने की बेचैनी इस दुचित्ते मन की एक अनिवार्य स्थिति है। द्वंद्व की यह स्थिति उन जैसे एक आधुनिक रचनाकार के संसार को बहुत आकर्षक बना देती है।

कोफी अवूनूर घाना के प्रथम राष्ट्रपति कवामें निक्रूमा के निकट मित्र थे। 1966 में जब राष्ट्रपति का तख्ता पलटा तो अवूनूर को देश छोड़कर जाना पड़ा। सात वर्ष तक वे अमरीका में एक निर्वासित का जीवन जीते रहे। 1975 में वे घाना लौटे और युनिवर्सिटी ऑफ कैप कोस्ट में अंग्रेजी साहित्य पढ़ाने लगे, लेकिन 1978 में वे पुनः एक राजनीतिक विवाद में फंसे। उन पर सैन्य सरकार ने यह अभियोग लगाया कि वे एक सम्भावित तख्ता पलट के षडयंत्र में शामिल हैं। उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। लेकिन बहुत सारे मानव अधिकार संगठनों के विश्व स्तर पर बने दबाव के कारण एक वर्ष बाद उन्हें रिहा कर दिया गया। 1977 से 1982 तक उन्होंने घाना की युनिवर्सिटी में पढ़ाया पर जेल से बाहर आने के बाद नब्बे के दशक में वे अधिकाधिक राजनीतिक और सरकारी जिम्मेदारियों में उलझते गये। वे कई सरकारी पदों पर रहे। कुछ समय में ब्राजील और क्यूबा में घाना के राजदूत के रूप में भी कार्य करते रहे। राष्ट्र-संघ में घाना के स्थायी प्रतिनिधि के रूप में

भी उनकी नियुक्ति हुई थी। अपने पांच दशक के सार्वजनिक जीवन में कोफी अवूनूर की साहित्य, शिक्षा, संस्कृति, घरेलू राजनीति और अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति में गहरी सक्रियता बनी रही।

कोफी अवूनूर की कविता पर आरम्भिक प्रभाव अपनी दादी का था जो मौखिक काव्य की परम्परा में शोकगीत गाने वाली महिला थी। अवूनूर की शुरुआती कवितायें अपने अंचल की इस शोकगीत परम्परा को गहरे आत्मसात करती हैं उन जैसा आधुनिक कवि इस प्राचीन लोक परम्परा के खाके में उस 'एलियनेशन' को विन्यस्त करता है जो पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा और अपनी जीतीय स्मृतियों के द्वंद्व से उपजा है। वे घर लौटना चाहते हैं और यह लौटना अब उतना सरल नहीं रहा। उनकी कविता कुछ खो देने और विस्थापित हो जाने के क्लेश से जन्मी है।

मेरे लोगों मैं रहा अब तक कहीं
आता हूं इस तरफ
तो बारिश मारती है मुझे
मुड़ता हूं उस तरफ, सूर्य मुझे तपाता है
इस दुनिया का ईंधन महज उनके लिए जिनमें उम्मीद है
सब नहीं इकट्ठा कर सकते उसे

वे एक स्थायी अवसाद की कविता रचते हैं। उनके पहले कविता-संग्रह 'रिडिस्कवरी' में लगातार उस खोज, तनाव और टकराहट को देखा जा सकता है जो विजातीय तत्वों की सतत उपस्थिति से निर्मित होती है। उनका समस्त काव्य-बोध किसी क्रमभंग इतिहास, प्रगति के अफ्रीकी और यूरोपीय तत्वों के बीच किसी समरसता की खोज, अपनी जड़ों की ओर लौटने की स्पृहा और उसकी कठिनाइयों से निर्मित है। यह तनाव अंत तक उनकी कविताओं में बना रहा।

'दिस अर्थ माइ ब्रदर' उनका एक उपन्यास है। गद्य-कविता की तरह लिखे गये इस उपन्यास में अफ्रीका एक रूपक बन जाता है। जिसमें संचरण का समय है। शिक्षित मनुष्य अपनी पहचान के संकट और अपनी जड़ों से निर्मूल होते जाने की बेचैनी से भरा हुआ है। निर्वासन, मृत्यु और किसी आदर्श की आकांक्षा यहां सारी स्थितियों के मूल में है। यह कृति एक यथार्थवादी आख्यान को भी प्रस्तुत करती है और काव्यात्मक सघनता को भी।

कोफी अवूनूर की कविता में परम्परागत लोकगीतों की तरलता और आधुनिक मानस के तनाव का यह विलक्षण संयोजन अनेक प्रकार से उभरता है। 'दि वीवर बर्ड'

उनकी एक चर्चित कविता है। इसमें घोंसला बुनने वाला बया पक्षी यूरोपीय औपनिवेशिक वर्चस्व का प्रतीक है जिसने उस पेड़ को ही नष्ट कर दिया जिस पर उसने आश्रय लिया था। प्रार्थना का सन्दर्भ इस कविता में उन ईसाई मिशनरियों से है जिन्होंने अफ्रीका की प्राचीन संस्कृति को तहस-नहस कर दिया।

हमारे नये क्षितिज की सीमा अब उसके घोंसले तक
लेकिन हम नहीं शामिल हो सकते उसके प्रार्थना गीतों में
भटकते हैं हर दिन हम अपने नये घर के लिए
उन पूजा-स्थलों के लिए जिन्हें फिर से बनायेंगे हम
पुरानी वेदियां दूषित हो चुकी हैं इस पक्षी की विष्ठा से

'हाउस बाइ सी' (1978) की कवितायें जेलखाने में लिखी गयी हैं। इन कविताओं में कवि की राजनीतिक चेतना पहले की तुलना में अधिक मुखर है। चरम हताशा और मुक्ति की बेकली का मिश्रित बोध है इन कविताओं में।

कोफी अवूनूर एक ऐसे महाद्वीप में कविता लिखते रहे थे जहां यद्यपि अधिकांश जनता निरक्षर है पर उसके बावजूद ऐसे लोगों द्वारा महाकाव्यात्मक प्रस्तुतियों को नृत्य के माध्यम से सम्प्रेषित करने की समुद्ध परम्परा रही है। अफ्रीका के अनेक आधुनिक कवियों ने इस मौखिक सांगीतिक परम्परा को अपने आधुनिक बोध की नैतिक और सौन्दर्यात्मक जरूरत बताया है। कोफी अवूनूर ने अपनी वैचारिक निबंधों की पुस्तक 'बीस्ट ऑफ दि अर्थ' में इस बात की पुरजोर दलील दी है कि जुलु, योरुबा, अकान और इवे जैसी अफ्रीकी मौखिक परम्पराएँ एक आधुनिक लेखक के जटिल मानस और उसके बाहरी - भीतरी निर्वासन को बहुत प्रभावशाली ढ़ंग से व्यक्त कर सकती हैं। वे परम्परागत पद-रचना, कथन शैली, और वाक्-सरणियों की उस सहज बोधगम्यता का आधार प्रदान करती हैं जो दैनिक बोलचाल की रवानगी से भरी हैं। साथ ही वे उस आधुनिक द्वंद्व की अनेक स्तरीयता को भी व्याख्यायित कर सकती हैं जो तीसरी दुनिया के एक लेखक के भीतर अपने शुद्धतम रूप में यूरोपीय आधुनिकतावाद को आत्मसात करने से जन्मा है। महत्वपूर्ण यह है कि कोफी अवूनूर ने मौखिक कविता के उन तत्वों का उपयोग यूरोपीय कविता से उपलब्ध शिल्प के भीतर बड़ी कुशलता से किया है। उसमें आधुनिक अफ्रीकी संवेदना, संस्कृति और विश्व दृष्टि तो उभरती ही है। अपनी लोक परम्परा से प्राप्त गीतों के मिथक, मुहावरे, लोक कथाएं, आंचलिकता, अनुष्ठान, नाद सौन्दर्य, पदक्रम, छंद, लय आदि की वह संरचना भी है जिसे वोल शोयिंका जैसे कवि ने 'एक आधुनिक अफ्रीकी कवि के दोहरे सृजन' के रूप में व्याख्यायित किया है। महत्वपूर्ण यह है कि आधुनिकता के साथ परम्परागत तत्वों का मेल करते हुए कोफी

अवूनूर की कविता बोल शोयिंका या अकोट पिब्तेक जैसे अपने समकालीन कवियों की तुलना में कहीं अधिक सहज और बोधगम्य है।

कोफी अवूनूर ने रचना-धर्मिता के बारे में किसी समय एक अफ्रीकी पत्रिका 'कंफ्रंटेशन' में कुछ बहुत महत्वपूर्ण बातें कहीं थी। यहां उसमें से एकाध बात को दिया जाना उचित होगा।

''यह यूं ही नहीं है कि 'शब्द' जादू - टोने का अभिन्न अंग है। एक लेखक उस भाषा और ऐतिहासिक तथ्य दोनों का ही वारिस है। जिन्हें उपयोग और अनुष्ठानों के कारण बहुत पहले ही स्वायत्तता मिल चुकी है। लेकिन यह लेखक ही है जो अपने कलात्मक वरदान के बल पर इन्हें प्रत्यक्ष और लौकिक की सीमा रेखाओं से बाहर निकालता है। उसे यह कलात्मक वरदान वैयक्तिक और सामुदायिक के संपुजन से मिला है। वह सिर्फ एक लेखा-जोखा करने वाला प्राणी नहीं है। वह तकनीशियन, जादूगर, मिथक-निर्माता, प्रवंचक, पुरोहित, भविष्यवक्ता भी है, क्योंकि उसकी ऊर्जा सुस्पष्ट और गोचर को सामयिक की घेराबंदी से मुक्त कर चिरंतन के इलाके में ले जाती है। उसकी जिम्मेदारी केवल अपने प्रति ईमानदार रहने के परे भी है। वैयक्तिक और सामुदायिक- इन दोनों मूलभूत संवेगों का यह अंतिम एकीकरण कला सिर्फ इसी के बल पर तो एक व्यक्ति उसके समय और उसके लोगों को परिभाषित करती रहती है।''

ए-302/ महावीर रचना, सेक्टर15,
सीबीडी-बेलापुर,
नवी मुम्बई 400614
मो. 09820370825

स्मृति

दो भाषाओं को समृद्ध करने वाले बिज्जी

मालचंद तिवाड़ी

[बिज्जी के नाम से लोकप्रिय विजयदान देथा 11 नवम्बर, 2013 को प्रातःकाल अपने गाँव बोरूंदा में सदा के लिए मौन हो गये। राजस्थानी लोककथाओं का संचयन उन्होंने 'बातां री फुलवारी' के 13 खण्डों में किया। इन कहानियों में उन्होंने लोक की चेतना तथा राजस्थानी की माटी की गंध को सुरक्षित रखा। जब इनमें से कुछ कहानियाँ उन्होंने हिन्दी में प्रस्तुत कीं तो उनके रचनाकर्म से हिन्दी समाज चमत्कृत हो गया। इन कथाओं की ताकत से उन्होंने देश-विदेश के मर्मज्ञों को परिचित कराया। प्रसिद्ध कथाकार मालचंद तिवाड़ी 'बातां री फुलवारी' की सभी कथाओं को हिन्दी में लिखने का महान कार्य करने में लगे थे तथा बिज्जी के साथ ही रह रहे थे। जब बिज्जी ने अंतिम सांस ली तब भी वे उनके पास थे। 'अक्सर' परिवार की श्रद्धांजलि के साथ हम मालचंद तिवाड़ी का स्मृति लेख प्रस्तुत कर रहे हैं। सं.]

ऐसा लगता है जैसे आज दो भारतीय भाषाएं सवेरे-से मौन हैं, गूंगी हैं। आज अप्रतिम भारतीय कथाकार विजयदान देथा उर्फ बिज्जी ने अपने गाँव बोरूंदा में सवेरे 8.55 पर अंतिम सांस ली। बिज्जी सन 1955 ई. में शहर को सार्वकालिक अलविदा कहकर अपने गाँव लौटे थे। उनकी प्रतिज्ञा थी कि लिखूंगा तो केवल गाँव की कथा, सो भी गाँव की भाषा-बोली में। यह भाषा-बोली थी राजस्थानी। इस परिघटना का जिक्र बिज्जी ने अपने शब्दों में यों किया है, 'बातां री फुलवाड़ी' (भाग-छह) और 'मां रौ बदळौ' (भाग-एक) बाबासा को भेंट किया, जिसकी पंक्तियाँ इस प्रकार थी :

बाबासा!
आपकी वह सीख तब से
मेरी रग-रग में समाई है
कि लोक-कथाओं को लिखने के सिवा
न मेरी लिखावट का कोई निस्तार है
और न राजस्थानी का!

आप स्वर्ग में बिराजे हुए भी
इस बात का ध्यान रखिएगा
कि मैं कदम न चूक जाऊं!
आपकी गलदश्रु स्मृति को
मैं यह पोथी भेंट करता हूं
जीते जी मेरी ऐसा करने की हिम्मत न हुई!
(बातां री फुलवाड़ी भाग-1 की भूमिका)

बिज्जी के इन बाबासा का नाम था- जोधपुर शहर के प्रख्यात विद्या-व्यसनी स्व. सेठ गोवर्धनलाल काबरा। इस प्रतिज्ञा का मान रखते-रखते बिज्जी भारतीय कथा साहित्य के शिखर-पुरुष हो गए। किसी भी सार्वकालिक महान लेखक की महानता का एक बड़ा अभिलक्षण कदाचित यह होता है कि वह भाषाओं की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाए। भारतीय साहित्य में कबीर इसके अन्यतम उदाहरण है। उत्तर भारत की लगभग सभी भाषाएं कबीर को अपने खाते में खता कर खुश होने में कभी पीछे नहीं रही। बिज्जी ने प्राथमिक रूप से सदा-सर्वदा राजस्थानी में लिखा, मगर आज उनके निधन पर हिंदी भी उतनी ही गमगीन है जितनी राजस्थानी। इसका कारण क्या हो सकता है?

यहाँ मैं एक घटना का उल्लेख करना चाहूँगा। कुछ साल पहले की बात है। भारतीय ज्ञानपीठ ने अपनी एक अभिवृत्ति (फेलोशिप) प्रस्तावित कर बिज्जी से आग्रह किया था कि वे उनके लिए राजस्थान के लोक-श्रुत प्रेमाख्यानों को समकालीन कथा-कलेवर में प्रस्तुत करें। ज्ञानपीठ के तत्कालीन निदेशक प्रभाकर श्रोत्रिय ने जब फोन पर उन्हें इसकी जानकारी दी तो बिज्जी की पहली प्रतिक्रिया थी, 'पर आप तो यह फेलोशिप हिंदी में लिखने के लिए प्रस्तावित कर रहे हैं ना! मैं तो पहले राजस्थानी में लिखने के बाद ही प्रेमाख्यानों को हिंदी में प्रस्तुत कर पाऊंगा। यह तो मेरी प्रतिज्ञा ही ठहरी!' इस पर श्रोत्रिय जी का सुंदर और सधा हुआ उत्तर था, 'अरे बिज्जी, यह तो और भी अच्छा! आपकी लेखनी के जौहर से एक साथ दो भारतीय भाषाएं समृद्ध हो जाएंगी।'

और ऐसा ही हुआ। राजस्थानी में बिज्जी के लिखे प्रेमाख्यानों से बातों की फुलवाड़ी का चौदहवां भाग निर्मित हुआ। वही हिन्दी में दादासी का दास्तान शीर्षक से ज्ञानपीठ ने उनका कथा-संग्रह प्रकाशित किया। बिज्जी ने लोक-कथा की संरचनापरक और अभिप्रायमूलक पावनता को बिना आहत किए जिन नए अभिप्रायों, अर्थ-संकेतों और अर्थछवियों और व्याख्याओं को संभव किया, उसे भारतीय कथा साहित्य में संभवतः एक भूतो न भविष्यति किस्म का विषम संतुलन ही कहा जा सकता है। बिज्जी की परख के लिए हिंदी को नए समीक्षात्मक प्रतिमान गढ़ने होंगे, अलबत्ता हिंदी ने उन्हें सिर-आंखों पर बिठाने में कभी कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। प्रणाम बिज्जी!

अनुवाद

राजनीति पर मूर्ति का आवरण

पवन के वर्मा
अनुवाद - डॉ. दुर्गाप्रसाद अग्रवाल

नरेन्द्र मोदी एक उम्दा वक्ता हैं और बीजेपी के प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार चुने जाने के बाद हरियाणा के रेवाड़ी में उनके पहले सार्वजनिक भाषण ने इस बात के पर्याप्त प्रमाण भी दे दिए हैं। लेकिन सरदार पटेल की उनकी भरपूर तारीफ से मुझे आश्चर्य हुआ है, मोदी ने घोषणा की है कि वे भारत के हर गांव से लोहा इकट्ठा करके गुजरात में स्टेच्यू ऑफ लिबर्टी से दुगुनी ऊँचाई की सरदार पटेल की एक मूर्ति लगवाएंगे जो दुनिया की सबसे बड़ी मूर्ति होगी।

मुझे आश्चर्य इसलिए हुआ कि सरदार पटेल ही वे व्यक्ति थे जिन्होंने उस आरएसएस पर प्रतिबन्ध लगाया था। जिसके सदस्य नरेन्द्र मोदी 15 बरस की कच्ची उम्र में बने थे और खुद उनकी स्वीकारोक्ति के अनुसार जिसका उनके जीवन और चिंतन प्रक्रिया को ढ़ालने में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जब 2 फरवरी, 1948 को ''देश में काम कर रही आज़ादी को खतरे में डालने वाली और देश के नाम को कलंकित करने वाली नफरत और हिंसा की शक्तियों को उखाड़ फेंकने के'' अपने इरादे के तहत भारत सरकार ने आरएसएस पर प्रतिबन्ध लगाया तब पटेल ही भारत के गृह मंत्री थे।

आरएसएस के तत्कालीन सरसंघचालक गुरु माधव सदाशिव गोलवलकर के नाम लिखे अपने 11 सितम्बर, 1948 के एक पत्र में सरदार आरएसएस के नेताओं की बेबाक भर्त्सना करते हैं, ''उनके सारे भाषण साम्प्रदायिक विष से भरे हुए हैं। हिन्दुओं में जोश का संचार करने और उनके संरक्षण के लिए संगठित करने के लिए ज़हर फैलाना जरूरी नहीं था। इस ज़हर के अंतिम परिणाम के रूप में देश को गांधीजी के मूल्यवान जीवन से हाथ धोना पड़ा।''

महत्वपूर्ण बात यह है कि महात्मा गांधी की हत्या में आरएसएस और हिन्दू महासभा की भूमिका को लेकर सरदार के मन में कभी कोई संशय नहीं था। पण्डित नेहरू को लिखे 27 फरवरी, 1948 के पत्र में वे यह बात बहुत स्पष्टता के साथ कहते हैं: ''हिंदू महासभा की कट्टर शाखा ने सीधे सावरकर के निर्देशन में इस षड़यंत्र की योजना तैयार की और इसे क्रियान्वित किया .. . . . निस्संदेह आरएसएस और हिन्दू महासभा के जो लोग गांधी के सोचने के तरीकों और उनकी नीतियों के विरोधी थे उन्होंने उनकी हत्या का स्वागत किया।''

श्यामा प्रसाद मुखर्जी को लिखे एक अन्य पत्र (18 जुलाई, 1948) में वे इसी स्थिति को दुहराते हैं: ''जहाँ तक आरएसएस और हिन्दू महासभा का सवाल है. . . हमारी रिपोर्ट्स इस बात की पुष्टि करती हैं कि इन दोनों संगठनों और खास तौर पर पहले वाले संगठन की वजह से देश में एक ऐसा वातावरण बनाया गया जिसमें यह भयंकर त्रासदी सम्भव हो सकी।''

प्रसंगवश, हालांकि अपने मुकदमे के समय नाथू राम गोडसे ने आरएसएस के साथ अपने किसी स्पष्ट सम्बन्ध से इंकार किया था, कई वर्षों के बाद जनवरी, 1994 में फ्रण्टलाइन पत्रिका को दिए गए एक इण्टरव्यू में उनके भाई गोपाल सच्चाई को लेकर एकदम स्पष्ट थे। ''सभी भाई आरएसएस में थे, नाथूराम, दत्तात्रेय, मैं और गोविन्द। बल्कि आप कह सकते हैं कि हम लोग अपने घर की बजाय आरएसएस में ही बड़े हुए। हमारे लिए वह एक परिवार की तरह था। नाथूराम आरएसएस में एक बौद्धिक कार्यवाह बन गए। उन्होंने भी यह कहा है और इसे कभी छोड़ा नहीं।''

सरदार पटेल गांधीजी और उनके समावेशी नजरिये के पक्के अनुयायी थे। जिस संगठन आरएसएस ने मोदी का मार्गदर्शन किया और उनके दुनियावी नजरियें को गढ़ा उसके प्रति उनका प्रबल विरोध एक दस्तावेजी सच्चाई है। तो फिर पटेल को अपना कर और उनके प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए उनकी दुनिया की सबसे बड़ी मूर्ति बनाकर मोदी क्या कहने की कोशिश कर रहे हैं?

एक विचार तो यह हो सकता है कि आरएसएस के बारे में सरदार की राय से मोदी सहमत हों। आखिर इतने बड़े मुद्दे पर एक उत्साही प्रशंसक और उसके नव प्राप्त नायक के बीच इतना घोर मतभेद तो नहीं हो सकता। अगर हो तो मोदी को स्पष्ट ऐसा कहना चाहिए और अगर नहीं तो उन्हें इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि वे चुने हुए विस्मरण और स्वार्थ पूर्ण छल के एक सोचे-समझे प्रयास के द्वारा पटेल को सिंहत्व प्रदान कर रहे हैं। यानि देश के एकीकरण के लिए पटेल के प्रयास का गुणगान और जिन लोगों ने साम्प्रदायिक उन्माद और हिंसा की राजनीति के द्वारा देश को तोड़ने की कोशिश की उनके बारे में उनके कठोर विचारों की जानबूझकर अवहेलना।

इस बात के सुनिश्चित प्रमाण उपलब्ध हैं कि मोदी को बीजेपी का नेतृत्व प्रदान करने के राजनीतिक चयन के बारे में आरएसएस ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निबाही है। ये प्रमाण इस बारे में भी बहुत स्पष्ट हैं कि मोदी आरएसएस की विचारधारा से बेहद प्रभावित हैं। जब सबसे ज्यादा समय तक और सर्वाधिक 'सफल' आरएसएस मुखिया गोलवलकर सरसंघचालक थे (1940-73) तब मोदी एक प्रचारक थे।

कहा जाता है कि मोदी ने उनकी तारीफ में एक किताब भी लिखी थी। तो क्या वे गोलवलकर के बहुत स्पष्टता से कहे गए इन विचारों से भी सहमत हैं कि भारत अनन्य रूप से एक हिन्दू राष्ट्र है, जिसमें अन्य विश्वासों वाले लोगों के लिए कोई जगह नहीं है? यहाँ तक कि उन्हें नागरिक अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं? क्या वे, यहूदियों को समूल नष्ट कर देने के कृत्य को देश के लिए सबसे बड़े गर्व की बात मानने के लिए नाजी जर्मनी की गोलवलकर की तारीफ का भी समर्थन करते हैं? क्या वे भी गोलवलकर की ही तरह यह मानते हैं कि मनुस्मृति ही, जो कि शूद्रों को ब्राह्मणों की सतत सेवा में लगाना चाहती है और स्त्रियों की अधीनता की बात करती है, देश के लिए एकमात्र वैध कानून है? मेरा खयाल है कि बीजेपी ने अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में इस प्रतिगामी सोच का महत्व कम करने और अपनी राजनीतिक अपील का विस्तार करने का एक साहसिक प्रयास किया था। लेकिन मोदी के उत्थान के साथ बीजेपी की निर्देशक विचारधारा के रूप में आरएसएस के मूल दर्शन की वापसी हुई है।

अगर सरदार पटेल इस घटनाक्रम को देख रहे होंगे तो निस्संदेह वे बहुत दुःखी और साथ ही बहुत नाराज भी होंगे नाराज इस बात के लिए कि जिनका उन्होंने खुले तौर पर विरोध किया वे ही चालाकी के साथ उन्हें अपना रहे हैं और दुःखी इस बात के लिए कि उनके ये नए भक्त भारत का जो प्रारूप पेश कर रहे हैं वह उस प्रारूप से कितना अलहदा है जिसके लिए उन्होंने अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया था।

पवन के वर्मा
सलाहकार, मुख्यमंत्री
बिहार, पटना

डॉ. दुर्गाप्रसाद अग्रवाल
2/211, चित्रकूट वैशाली नगर
जयपुर

संवाद

समीक्षा ही साहित्य-दर्शन-वि.ना. उपाध्याय

डॉ. ए.पी. मिश्रा

(यहाँ हम हिन्दी आलोचना के विभिन्न पक्षों पर डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय का साक्षात्कार प्रस्तुत कर रहे हैं जिसे अंग्रेजी साहित्य के अध्येता डॉ. एन.पी. मिश्रा ने लिया था। यह साक्षात्कार कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है और डॉ. मंजूल उपाध्याय के सौजन्य से हमें प्राप्त हुआ है। शायद यह साक्षात्कार तब लिया गया होगा जब डॉ. वि.ना. उपाध्याय कानपुर विश्वविद्यलय के कुलपति थे। डॉ. मिश्रा कानपुर में ही अंग्रेजी के आचार्य थे। यह साक्षात्कार हिन्दी आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियों का बेकाक विवेचन करता है, आलोचना की जरूरत और ताकत की व्याख्या करता है तथा भारतीय काव्य शास्त्र की मौलिकता और महत्ता को प्रतिपादित करता है। सं.)

डॉ मिश्रा - आधुनिक हिन्दी समीक्षा की शुरुआत आप कब से मानते हैं?

डॉ. उपाध्याय - आधुनिक हिन्दी समीक्षा की शुरुआत भारतेन्दु द्वारा नाटक पर पहली समीक्षा लिखी गई थी उनके ही समय में जिसे हम (Review) कहते हैं। वह भी शुरु हुई लेकिन जिसे आधुनिक समीक्षा कहा जाता है वह तो मैं समझता हूँ, महावीर प्रसाद द्विवेदी से मानी जानी चाहिए।

डॉ. मिश्रा - क्यों?

डॉ. उपाध्याय - क्योंकि समीक्षा शब्द शायद ठीक नहीं है वह रिव्यू के अर्थ में प्रचलित हो गया है वैसे 'आलोचना' शब्द प्रयुक्त करना चाहिए जिसे Literary Criticism कहते हैं तो उस आलोचना को दो कारणों से आप आधुनिक कह सकते हैं। एक तो यह कि उन्होंने उसे आधुनिक ज्ञान विज्ञान से जोड़ा जैसे उन्होंने सम्पत्ति शास्त्र लिखा। आधुनिक आलोचना में उसके दो रूप हैं एक ओर तो वह विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों से अपने को समृद्ध करती हैं और वहाँ से पद्धतियाँ, अन्तर्दृष्टियां लेती हैं और आलोचक का एक अपना दृष्टिकोण होता है उसके विकास में भी वह आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की मदद लेता है तो वह उन्होंने शुरुआत की और उसी सन्दर्भ में अगर आप देखें तो उन्होंने जो प्राचीन परम्परा थी, काव्य शास्त्र की परम्परा थी, काव्य विवेचन की परंम्परा थी तो उसे भी उन्होंने बहुत ध्यान से पढ़ा और उससे भी उन्होंने लाभ उठाया। इसलिए आधुनिक

समीक्षा की शुरुआत वहाँ से माननी चाहिए। इसके बावजूद उनका दृष्टिकोण इस अर्थ में आधुनिक था कि उन्होंने जो पारम्परिक गतानुगत या रीतिकालीन साहित्य जिसमें सामाजिक चेतना नहीं थी साहित्यिकता थी, शृंगारिकता थी। लेकिन सामाजिक चेतना नहीं थी, सामाजिक परिवर्तन की बेचैनी नहीं थी। तो उसका उन्होंने विरोध किया और कविता तथा दूसरे साहित्यिक सृजन को चेतना (सामाजिक) से जोड़ा। उस समय की सामाजिक चेतना समाज की असंगतियों, बुराइयों, कमजोरियों पिछड़ेपन या दूसरे अन्तर्विरोधों के प्रति उन्होंने जागरूक किया। यह सही है कि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से साम्राज्यवाद का विरोध नहीं किया। अंतर्विरोध तो यही था कि विदेशी शासन था तो उसके विरूद्ध उन्होंने कोई जिहाद उस तरह से नहीं की क्योंकि वे भी सरकारी नौकरी में थे लेकिन फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें साम्राज्यवाद का विरोध शामिल है जैसे - सम्पत्तिशास्त्र लिखा जिससे स्पष्ट रूप से उन्होंने साम्राज्यवाद का विरोध किया जैसा कि डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक 'महवीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' में विस्तृत विवरण दिया गया है। उससे पता चलता है। तो, मैं समझता हूँ कि महावीर प्रसाद द्विवेदी से उसका प्रारंभ मानना चाहिए।

डॉ. मिश्रा - आधुनिक समीक्षा और पुरानी समीक्षा में आप क्या अन्तर समझते हैं?

डॉ. उपाध्याय - प्राचीन समीक्षा का विभेद नमूनो, मॉडल्स या प्रारूप को लेकर किया जा सकता है। प्राचीन समीक्षा का मॉडल काव्यशास्त्र था और उसमें शब्दार्थ का विवेचन होता था। उस का अनुसंधान होता था, ध्वनि का विवेचन होता था। तो इस प्रकार वह रूढ़ समीक्षा थी, रूढ़ आलोचना थी और उससे साहित्यिक उत्कर्ष और अपकर्ष का परिबोध होता था लेकिन फिर वह वर्गीकरण में फंस जाती थी। उस कारण वह पांडित्य प्रधान ज्यादा हो जाती थी। जो विवेच्य विषय होता है जैसे - रचना का उत्कर्ष क्या है? वह रचना रचना है या नहीं? अन्य रचनाओं या उस विवेच्य रचना से कोई गुणात्मक तारतम्य है या नहीं? यह आलोचना का मुख्य विषय होता है तो यह चीज रूढ़ आलोचना में नहीं थी। उदाहरण के लिये आप पुराने आलोचकों को देखें तो वह उसका, अलंकारों का, ध्वनि का, रीति का विशेष रूप से रस का वर्गीकरण करते, उसकी परिभाषा देते दिखाई पड़ते हैं। जो साहित्य लिखा गया है उसका विश्लेषण नहीं करते। वह या तो प्रतिमानों का करते रहते हैं या प्राचीन, काव्यशस्त्रीय ज्ञान का प्रदर्शन करते हैं। लेकिन इसके साथ रूढ़ आलोचना में एक बात उसके पक्ष में कही जानी चाहिए कि उस काव्य शास्त्रीय परम्परा में कही न कहीं एक अन्तर्दृष्टि का भी विकास होता था और वह पहचानते थे कि कौन कवि बड़ा है कौन छोटा? कौनसी रचना प्रभावित करती है, कौनसी नहीं। लेकिन, रूढ़ आलोचना की मुख्य न्यूनता यह थी कि उसको बदलते हुए समाज, बदलती हुई चुनौतियों से और चिन्ताओं से नहीं जोड़ पाते थे। क्योंकि वह हमारी परम्परा में ही नहीं था। परिवर्तन की चेतना हमारी परम्परा में था ही नहीं क्योंकि हमारी परम्परा में तो स्थिरता, शाश्वतता, समानता पर हमेशा बल अधिक रहा, संस्कृति में भी

रहा। यह परिवर्तन क्रांति, विद्रोह की धारणा का Concept आधुनिक युग में आया। इसलिए आधुनिक आलोचन में दो गुण हैं- एक तो प्रगति और दूसरा प्रयोग। रूढ़ आलोचना में न आपको प्रगति का बोध मिलता है और न प्रयोग का।

डॉ. मिश्रा – यह नई आलोचना रूढ़ आलोचना की परम्परा से जुड़ती है या नहीं?

डॉ. उपाध्याय – यह जो आधुनिक आलोचना है आप उसे उपलब्धि माने या प्रवृत्ति माने वह यह है कि वह रूढ़ आलोचना को पढ़कर उसमें से भी अपने काम की चीजें निकाल लेती है। जैसे काव्यशास्त्रीय परम्परा में आप दो बाते देखेंगे। जैसे – आधुनिक आलोचक, यदि वह मार्क्सवादी हैं, प्रगतिवादी हैं, प्रगति को केन्द्र बनाकर लिखते हैं और समाज का एक नया स्वस्थ स्वरूप गढ़ना चाहते हैं तो इसी दृष्टि से वह साहित्य, कला, सृजन, चिंतन मनन को देखते हैं। उस प्रगतिवादी दृष्टि से विचार करते हैं तो उन्होंने काव्यशास्त्र की पुनर्व्याख्या की, शुरू से ही आधुनिक मार्क्सवादियों ने की। उसमें उन्होंने पाया कि जो रूढ़ आलोचना थी उसमें विशेष प्रकार का मानववाद मिलता है यानि कि मनुष्य के राग को उन्होंने रेखांकित किया, सर्वदा। परिवर्तन की धारणा तो नहीं थी लेकिन मनुष्य में जो भावना, राग, अनुराग, प्रेम को उन्होंने विशेष महत्व दिया उसे पकड़ा। और दूसरा यह कि जो सिद्धान्त है उनके साथ अपनी सामाजिक दृष्टि जोड़कर उन्हें आधुनिक साहित्य के सन्दर्भ में Operate करने की बात सोचने की कोशिश की। अपने विषय में मैं क्या कहूँ लेकिन चूंकि मैंने काम किया है इसलिये मैं कह रहा हूँ मैंने भारतीय काव्य शास्त्र का द्वन्द्वात्मक दृष्टि से वर्षों अवलोकन किया तो मैं इस स्थिति पर पहुँचा। कि जो प्राचीन लोग थे, जिसको आप रूढ़िवादी आलोचना कहें या रूढ़ आलोचना या पारम्परिक आलोचना कहें, उन्होंने साहित्य विवेचना की एक प्रणाली बनाई और वह इस पर आधारित है कि जिसे आप साहित्य में स्थाई तत्त्व कहते हैं। साहित्य में स्थाई तत्त्व यानि कि या तो उसमें कल्पना का प्रयोग होता है या भावना का या फिर इन्द्रिय बोध का। यह उसके स्थाई तत्व हैं जो हर साहित्य में दिखाई पड़ते हैं। आधुनिक साहित्य प्रयोगशील है लेकिन उसमें यह तत्त्व विभिन्न समीकरणों के द्वारा देखे जा सकते हैं। तो इसलिए उनको आप नहीं छोड़ सकते। मैं इस स्थिति पर पहुँचा कि भारतीय काव्य शास्त्र के ध्वनि सिद्धान्त में कुछ फंडामेंटल बातें, आधारभूत बातें कहीं जैसे – साहित्य अभिधा नहीं है, साहित्य में व्यावहारिक भाषा का प्रयोग नहीं होता वह उससे बचता है। रीतिवादी, अलंकारवादी, ध्वनिवादी व वक्रोक्तिवादियों ने भी यहीं कहा। सारे भारतीय काव्य शास्त्र के, जो विद्वान आलोचक थे वे एक सीमा तक रचनाकार भी थे तथा आलोचक भी, यह भी एक बड़ी बात है। तो वे लोग इस आवश्यक और मूल तथ्य पर पहुँच चुके थे कि जो कविता या साहित्य है अभिधा नहीं है, वह व्यवहार की भाषा नहीं है उसमें भाषा का रूप विचलित होता है। तो, इस सत्य का आज का जो शैली विज्ञान है या संरचना वाद हैं . . . . . जितने भी आप अधुनिक प्रजातियों को देखें चाहे वह संकेत विज्ञान, सब में यह बात मूलरूप से पायी जाती है कि यहाँ विचलन होता है जहाँ दूसरों से भिन्नता होती है, वहीं पर कला पैदा होती है यदि उसमें कोई विचलन, दूसरों से

भिन्नता नहीं है पृथकता नहीं है तो उसे साहित्य सृजक नहीं माना जा सकता चाहे उसका विषय गरीबी हो अथवा गुलाब हो, सौन्दर्य हो, सृजन का आवश्यक तत्त्व विचलन है, वह वक्रोक्ति है, वह अलंकार है या वह ध्वनि है। तो, इस तरह से जो रूढ़िवादी आलोचना है उससे भी उनकी मूल धारणाओं, आधारभूत Concept को लेकर उनको अपने समय के साहित्य के सन्दर्भ में कार्यकारी बनाना, यह काम आधुनिक मार्क्सवादियों ने भी किया और यदि आप मार्क्सवाद के विरोधियों जो अपने को आधुनिक मानते हैं और वो किसी विशेष विचार दर्शन को नहीं मानते जैसे मार्क्सवादियों के पास एक विचार धारा है उनका एक विश्वबोध है, उनके निश्चित मूल्य हैं। उसके विपरीत, जो स्वतंत्राधुनिक हैं, जो अपने को स्वतंत्र मानते हैं और उनका लक्षण सिर्फ एक ही है कि वह प्रयोग करते हैं, जीवन में, अनुभवों में, भाषा में भी प्रयोग करते हैं और किसी भी विचारधारा को नहीं मानते यहाँ तक कि मूल्यों को भी वह व्यक्तिगत मातने हैं, उनको वह कमाते हैं, वह कमाऊ होते हैं, ऐसा मानते हैं और वह सामाजिक मूल्यों को रूढ़ि मानकर उसकी भी आलोचना करते हैं। तो उन्हें आप तथाकथित आधुनिक या स्वतंत्र आधुनिक या कुछ भी कहें, वह लोग भी रूढ़िवादी आलोचना से काम की चीजें निकालते हैं। जैसे रामस्वरूप चतुर्वेदी हैं। उन्होंने भी भारतीय काव्यशास्त्र से बहुत से Concepts धारणाएं ली हैं व उनका प्रयोग किया है। इसी प्रकार अज्ञेय जी, जो बाद में बिल्कुल परम्परावादी हो गये थे। उन्होंने भी जैसे साधारणीकरण के सिद्धान्त की व्याख्या सीमित और असीमित साधारणीकरण के रूप में की थी। वह भी उस समय जबकि ये नितान्त प्रयोगवादी थे, प्रयोगशील थे बाद में वह पूर्णरूपेण भारतीय परम्परा के पक्षधर हो गये थे और आलोचनात्मक कम, श्रद्धात्मक ज्यादा हो गये थे। सारांश यह कि जो रूढ़िवादी या पारंपरिक आलोचना है वह इतनी समृद्ध व अक्षय भण्डार है कि उसमें परम आधुनिकों को भी कोई न कोई अन्तर्दृष्टि मिल जाती है, कोई न कोई धारणा मिल जाती है और वह उनको समकालीन लगने लगती है। तात्पर्य यह कि पुर्नव्याख्या की गई है, आधुनिकों द्वारा।

डॉ. मिश्रा - कहने का मतलब यह कि जो पुरानी आलोचना थी उसकी भी एक प्रवृत्ति हमें आधुनिक आलोचना में दिखाई देती है!

डॉ. उपाध्याय - वह लगातार दिखाई पड़ती है और किसी भी बड़े या जिम्मेदार आलोचक ने उसे छोड़ा नहीं है। इस तरह हमारी आधुनिक आलोचना की जड़े जितनी पाश्चात्य काव्य शास्त्र में हैं अथवा समाजवादी काव्यशास्त्र में हैं उतनी ही बल्कि उससे अधिक भारतीय काव्यशास्त्र में।

डॉ. मिश्रा - इस दृष्टि से आप आधुनिक समीक्षा की किन-किन प्रवृत्तियों को रेखांकित करना चाहते हैं?

डॉ. उपाध्याय - आधुनिक समीक्षा में तो बहुत सी प्रवृत्तियां हैं। जैसा मैंने कहा कि आधुनिक आलोचना पर ज्ञान-विज्ञान का बहुत प्रभाव है और उसका परिणाम यह हुआ है कि असल में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की जो प्रवृत्तियाँ हैं वहीं आलोचना की प्रवृत्तियां हैं

जैसे आप अलग-अलग लें तो समझ में आएगा। उदाहरणार्थ - आधुनिक ज्ञान-विज्ञान में जो क्रांतिकारी चिन्तन हुआ, उसको आप दो भागों में बांट सकते हैं। एक समाजशास्त्र के क्षेत्र में जो कार्ल मार्क्स का चिंतन है। जिसमें समाज के नए स्वरूप की अवधारणा पेश की, उसकी प्रणाली बताई और उसका पूरा ढ़ांचा खड़ा किया और तुलनात्मक भौतिकवाद के आधार पर एक वैज्ञानिक दृष्टिबोध (World view) पेश किया। दूसरी ओर मनुष्य के अन्तर्मन और मन के चेतन, अचेतन, अवचेतन के सम्बन्धों को फ्रायड ने प्रस्तुत किया। तो आप देखेंगे, आधुनिक आलोचना दो भागों में विभाजित हो जाती है एक वह जिसे आप मनोविश्लेषणात्मक आलोचना कहते हैं। दूसरी और मार्क्सवादी आलोचना है तथा उन दोनों का महत्त्व है कौन सही या कौन गलत ? मैं तो यह मानता हूँ कि मार्क्सवादी आलोचना ही बुद्धिसंगत और वस्तुगत आलोचना है और उसमें फ्रायड के Concepts का भी इस्तेमाल किया गया है। समकालीन, विशेष रूप से योरूप के मार्क्सवादियों ने फ्रायड का एक हद तक अपने ढ़ंग से इस्तेमाल किया है। उसे पूरी तरह तो मार्क्सवादी नहीं मानते। कारण यह है कि मनुष्य के मन में अनेक परतें हैं और उसके मन में बुनावटें या बनावट उसकी ऐतिहासिक From में भी फ्रायड युग ने देखा है जैसे उसने यह Concept दिया कि एक सामूहिक मन होता है कलैक्टिव अनकांशस होता है। फ्रायड के शिष्य युंग ने इसका विशेष विकास किया तो परिणाम यह हुआ कि किसी भी मार्क्सवादी ने उसका खंडन नहीं किया उसकी जगह पर अपना कोई प्रत्यय नहीं दिया और कार्ल युग के सामूहिक अवचेतन को ध्यान में रखकर के जो नृतत्व शास्त्रीय आलोचना हिन्दी में विकसित हुई है जैसे डॉ. रमेशकुंतल मेघ ने लिखा तो जो प्राचीन नृवंशों का, कबीलों, आदिम जातियों का अध्ययन हुआ उनके कलैक्टिव अनकांशस को अगर आप समझते हैं तो उनके मिथ पुराण कथाओं, विश्वबोध, विश्वासों, मनोवृत्तियों, धर्म को आप समझते हैं। दूसरी बात यह कि उसी सामूहिक अवचेतन के आधार पर आधुनिक समाज को जो अन्तर्मन है उसको आप चाहें तो सामंती संस्कार या सामंती अधिशेष कहें। कुछ समाजशास्त्री ऐसे हुए जैसे पैरल्बे हैं तो वह उसको रेस्ड्यू कहता है जो एक नया शब्द है, अधिशेष कहता है। अधिशेष यानि कि आधुनिक युग में आ जाने पर हमारे जातीय संस्कार, पुरातन संस्कृति, पुराने विश्वास, संस्कारों का एक असर हमारे अवचेतन मन में बना रहता है। बुद्धि विज्ञान उसे स्वीकार नहीं करते लेकिन उसका असर रहता है। यही कारण है कि अगर हम पौराणिकता का अध्ययन करें किसी भी जनसमूह की संस्कृति का अध्ययन करते हैं तो हमें आदिम समाज से लेकर आज तक का वह सिलसिला देखना पड़ता है कि समाज में विभिन्न प्रकार के संस्कारों, विश्वासों का विकास हुआ विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों, अंधविश्वासों का विकास हुए। एक नैरन्तर्य दिखाई पड़ता है जो अभी तक चला आ रहा है। यही कारण है कि जो वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत ही आगे हैं, अग्रगामी हैं उसके जीवन में भी आपको अन्तर्विरोध उसके घरों के भीतर पुराने संस्कार अभी भी दिखते हैं। तो वह एक सामूहिक अवचेतन है जो चला आ रहा है।

डॉ. मिश्रा - यह आधुनिक ज्ञान विज्ञान के कारण विभिन्न प्रवृत्तियाँ आयीं। इनके अतिरिक्त भी क्या हिन्दी आलोचना ने अपनी प्रकृति विकसित की?

डॉ. उपाध्याय - अभी पहले प्रश्न को ही समाप्त करते हैं। जैसा कि मैंने कहा कि आलोचना की दो प्रणालियाँ थी। मनोविश्लेषणात्मक और मार्क्सवादी। उसके अलावा कुछ प्रणालियाँ भाषा को लेकर चली। नवीनतम प्रणलियों के प्रवर्तक इस परिणाम पर पहुँचे कि जो साहित्य है वह मूलत: भाषा है क्योंकि उसकी पकड़ भाषा के माध्यम से होती है। इसलिये उन्होंने भाषा को लेकर चिंतन बहुत किया। इस प्रकार तीसरी आधुनिक प्रणाली भाषा शास्त्रीय प्रणाली है जो इस समय चल रही है जैसे- शैली विज्ञान और संकेत विज्ञान और मनोविश्लेषणात्मक। इन सब में मनोविश्लेषण का प्रयोग हुआ है यथा - मनोविश्लेषणात्मक शैली विज्ञान का विकास हुआ। इसी तरह संकेत विज्ञान के संकेत जैसे हमारे आपके सबके मन में प्रतिमाएं रही हैं, पुरानी भी, नई भी। वह प्रतिमाएं या Imaiges या जिनको लोग चिह्न अथवा संकेत कहते हैं, मनोवैज्ञानिक ढ़ंग से ही समझ में आ सकती है। उनके Psychological Connections होते हैं। इसलिये, उस मनो विश्लेषण का प्रयोग किसी न किसी रूप, किसी न किसी मात्रा में भाषा शास्त्रियों ने भी किया जो केवल व्याकरणिक नहीं है। उसमें व्याकरणिक विशेषण भी हुआ है जिसमें किसी कविता के संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण या अन्य शब्दों क्रियाओं, क्रिया विशेषणों का आप संकलन करते हैं और किसी कवि में सर्वनामों का प्रयोगाधिक्य है तो कहीं संज्ञा का। अर्थात् व्याकरणिक विश्लेषण भी हुआ है जो मार्क्सवादियों ने भी किया है उदाहरण के लिये उसका एक विशेष रूप सोवियत रूस में प्रचलित हुआ। बहुत से मार्क्सवादी ऐसे भी हैं जो केवल विचारधारात्मक लेखन करते हैं। उनमें कुछ बहुत जोशीले लोग हैं। उन्हें उसमें खतरा दिखाई पड़ता है। जबकि असलियत यह है कि कोई भी विश्लेषण अन्तत: ज्ञान बनता है और ज्ञान विश्लेषण का विषय बनता है तो सोवियत रूस में जो मार्क्सवादी सेमियोटिक्स का प्रयोग हुआ तथा पूंजीवादी देशों में सेमियोटिक्स का प्रयोग मार्क्सवाद का विरोधी है, ऐसा लगता है तो, हमारे नौजवान मार्क्सवादी इसको भूल जाते हैं, कि स्वयं सोवियत रूस में उन्होंने मार्क्सवादी शैली विज्ञान का प्रयोग किया, मार्क्सवादी संकेत विज्ञान का प्रयोग कर रहे हैं। वह केवल भाषा या शब्द तक सीमित नहीं रहते। वह अर्थ तक जाते हैं चूंकि अर्थ सामाजिक सन्दर्भ में होता है। किसी भी शब्द का अर्थ सामाजिक सन्दर्भ में पैदा होता है। इसलिए वह अपने शैली विज्ञान को समाज के सन्दर्भ से जोड़ते हैं तो वह मार्क्सवादी हो जाता है। लेकिन आधुनिकतम विश्लेषण के औजार या पद्धतियाँ भाषा शास्त्रीय हैं। बस उसमें अन्तर यही है कि पूंजीवादी देशों के विश्लेषण अर्थ तक न जाकर शब्द सीमित रह जाते हैं। वे शब्द के विन्यास, विचलन या Register का अध्ययन करते हैं, आगे नहीं जाना चाहते हुए आलोचकों पर छोड़ देते हैं। हमारा काम यह है कि केवल वस्तुगत विश्लेषण जहाँ तक हो केवल वहीं तक उस प्रणाली को रखें, वही तक वह वस्तुगत रह सकती है। वह यह मानते हैं कि कोई भी प्रणाली पूर्ण

नहीं लेकिन यदि आप पूर्ण प्रणाली के चक्कर में पड़ते हैं तो विश्लेषण होगा ही नहीं। इसलिये उन्होंने भाषा शास्त्रीय पद्धतियों का प्रयोग किया है और आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियों में इस प्रकार यह तीन प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं। बाकी उनकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं। एक मार्क्सवादी आलोचना जिसका स्वरूप समाजशास्त्रीय तथा चेतना के विशेषण चेतना की द्वन्द्वात्मकताएं भी होती हैं। वह अब उतनी स्थूल नहीं है, उतनी यांत्रिक नहीं है बल्कि जो यांत्रिक मार्क्सवादी आलोचना है उसकी इज्जत अब कम हो रही है। क्योंकि विद्वानों में उसकी कद्र कम हो रही है उसका कारण है कि कविता या कोई भी साहित्यिक विधा वह बहुत ही जटिल, संकुल जो Subjectivity है। या अन्तर्मुखता है या उसका आंतरिक जगत, कविता का भावजगत जटिल होता है और उसको आप मार्क्स के स्थूल सूत्रों से नहीं पकड़ सकते जब तक इन्हें आप परिणितियों तक नहीं ले जाएं। केवल सूत्र बताकर सामाजिक आकांक्षाओं या आग्रहों की पूर्ति अथवा परिवर्तनों के लिये अधैर्य के कारण उनको सामाजिकता के नाम पर रचना को समृद्ध Subjectivity की उपेक्षा नहीं कर सकते। अगर करते हैं तो उसमें स्थूलता का आरोप लगता है। अथवा वह ओवर शूटिंग होती है। बिना रचना के विश्लेषण के आप समाजशास्त्र समझाने लगते हैं। यह पहले बहुत हुआ। आप राहुल जी, रामविलास का लेखन देखें तो उसमें आपको वह बारीकी नहीं मिलेगी जो आज हैं।

क्योंकि मार्क्सवादियों ने भी सारे ज्ञान-विज्ञान को पढ़कर अपने अस्त्रों (Tools) को अधिक सक्षम बनाने का प्रयत्न किया फिर भी वह सामाजिक बने रहे हैं। इस तरह से तीन भागों में आधुनिक आलोचना प्रवृत्तियों को आप रख सकते हैं, मोट-मोटे रूप में। संरचनात्मक और शैली वैज्ञानिक और लिंग्विस्टिक यह भाषा शास्त्र पर आधारित है। Structuartists भी उनका अध्ययन करता है तो वह भाषा का ही है क्योंकि उसे भाषा ही मानते हैं और मनोविश्लेषणात्मक और मार्क्सवादी या समाजशास्त्री आप कह सकते हैं। हालांकि समाजशास्त्र मार्क्सवाद तक सीमित नहीं है। वह उसके विरोध में जाता है उसके भी दो रूप हैं एक तो मार्क्सवादी समाजशास्त्र दूसरा पूंजीवादी देशों में विकसित समाजशास्त्र में मार्क्सवाद का विरोध क्योंकि वह किसी भी सामाजिक समस्या का तथ्यात्मक अध्ययन करते हैं और तथ्य तक ही रहते हैं किसी विश्वबोध या दर्शन में उसे नहीं रखते जैसा कि मार्क्सवादी करते हैं। इसलिए वह तथ्य परक, तथ्यात्मक या Imperical Psyhcology आप उसे कह सकते हैं। वह मार्क्सवाद के परे जाती है, मार्क्सवाद सीमित नहीं है और मार्क्सवाद को समाजशास्त्र मानते भी नहीं पूंजीवादी समाजशास्त्री, क्योंकि मार्क्सवाद, विचारधारात्मक हो जाता है। उसमें भविष्य के सपने देखे जाते हैं, क्रांति की आकांक्षा प्रगट की जाती है तो यह विषय एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति, विचारधारा से सम्बन्धित होता है इसलिए तथ्यात्मक अध्ययन नहीं हो पाता है और उनका मार्क्सवादियों पर प्रमुख आरोप यही है कि वह तथ्यों का अध्ययन नहीं करना चाहते बल्कि चुने हुए तथ्यों की व्याख्या करते हैं और Case बनाते हैं। ये दोष आप सारे मार्क्सवादियों में पा सकते हैं।

जिसको वह शुद्ध करना चाहते हैं, उसकी पैरोकारी करने लगते हैं। परिणामत: यदि आप मार्क्सवादियों की आलोचना पढ़े तो उसमें एक आकांक्षा बचती है कि विवेच्य विषय ऐसा ही था अथवा मार्क्सवादियों के द्वारा प्रस्तुत हो दूसरे प्रकार का लगने लगता है। यह चुनौती है कि हम उसकी विवेचना करें कि जैसा वह है वैसा ही बना रहें। आधुनिक आलोचना में तो कमियाँ बहुत हैं। वे तो मूल्यांकन से बचते हैं, केवल विश्लेषण करते हैं क्योंकि मूल्य के विषय में व्यक्तिगत आग्रह आते ही हैं। उसमें आपकी आकांक्षाएं, मनोविज्ञान दो प्रकार से आता है- एक सचेत रूप से दूसरा अचेत रूप से। मार्क्सवादियों में यह सचेत रूप से आता है, वह जानबूझ कर करते हैं। लेकिन अचेत रूप से भी आता है। क्योंकि आपकी अपनी इच्छाएँ मनोविज्ञान, स्वभाव उसे रंजित करता है। यही कारण है कि जो गैर मार्क्सवादी समाजशास्त्री मानते हैं कि कवेल तथ्य का विश्लेषण करने पर ही आप वस्तुगत रहेंगे अन्यथा आप वस्तुगत नहीं रह सकते। आप भले ही वस्तुगतता का नारा पीटें लेकिन आपका विवेचन अवस्तुगत रहेगा। उसका प्रमाण है कि राहुल जी ने अपने विश्लेषण में Buddhism को उन्होंने मार्क्सवाद के अनुकूल सिद्ध किया और ब्राह्मण परम्परा के साथ बहुत अन्याय किया जबकि ब्राह्मण परम्परा ने समूची संस्कृति की रक्षा की इसलिये प्रतिक्रिया का समर्थन हुआ लेकिन बावजूद इसके समूचे समाज के नैरन्तर्य को उन्होंने रखा। अगर वह विज्ञान है तो उसे Positive और Nagetive दोनों को कहना चाहिए चाहे वह शत्रु हो या अथवा मित्र। उसके पौष्टिक पक्ष को कहना चाहिए जबकि उन्होंने नहीं कहा। इसकी वजह Buddhism सुधारात्मक होने पर भी वह हिन्दुस्तान से नष्ट हो गया और ब्राह्मण धर्म प्रतिक्रियावादी होने पर भी बना रहा क्योंकि उसमें केवल वर्ण धर्म नहीं है, उसमें जीवन का यथार्थ भी है राष्ट्र की चिंता है उसमें जीवन के सब रूपों की रक्षा करने का भी प्रयत्न है और वह वर्ण धर्म विरोधी होने पर भी नष्ट हो गया क्योंकि वह अतिवादी हो गया एकान्तवादी हो गया और बाद में भ्रष्टाचार फैल गया। जैन धर्म रहा भी तो वह हिन्दू धर्म का अंग हो गया। तो, इस प्रकार राहुल जी का दायरा स्पष्ट दिखाई पड़ता है। रांगेयराघव ने इसका विरोध किया था। आप रामविलास शर्मा को लें। अगर वह पंतजी पर लिखेंगे तो उनका खण्डन कर निराला जी को स्थापित करेंगे यह Intonsice है और Intesision को मार्क्सवादी आलोचना में पहले देखना चाहिए। अब इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी आलोचना में मिथ्या का अंश निश्चित रूप से है। यह सत्य है कि निराला जी अधिक प्रगतिशील अधिक जनवादी हैं हमारे प्रतीक हैं। लेकिन आप दो-तीन तथ्यों को देखें क्योंकि सारा विवेचन तो संभव नहीं। जैसे पहला विवेचन, निराला जी भी विवेकानन्द की अद्धैतवादी व्याख्या से प्रभावित हैं और जीवन के अंत में आकर अध्यात्मवादी हो जाते हैं। प्रार्थना गीत लिखते हैं तो उसे प्रगतिशील तो नहीं माना जा सकता। उसमें व्यक्त जन-करूणा की तो प्रशंसा होनी चाहिए क्योंकि ईश्वर के माध्यम से भी मनुष्य समाज-चिंता प्रगट कर सकता है। प्राचीन लोगों ने भी यही किया, मध्यकालीन संतों ने भी यही किया लेकिन यदि आप उनके विश्वबोध को

ले तो उसे प्रगतिशील तो नहीं माना जा सकता लेकिन सुमित्रानन्दन पंत में वही अद्वैतवाद प्रतिक्रियावाद हो जाता है। डॉ. रामविलास शर्मा यही ठहराते हैं और वही वेदान्त निराला जी में प्रगतिशील हो जाता है तो यह मिथ्या है अंतर्विरोध है। यह Objective नहीं है। यह Intension का तत्व अन्तर्मुखता पनपाता है और वस्तुगत विवेचन पीछे पड़ जाता है।

डॉ. मिश्र - यह स्थिति पूरी हिन्दी आलोचना की हैं?

डॉ. उपाध्याय - नहीं पूरी हिन्दी अलग अलग है। वैसे देखा जाय मार्क्सवादी दृष्टि से मनुष्य की सीमा की दृष्टि से भी कोई शुद्ध मॉडल जहाँ में नहीं है। आप कोई Perfect Model ढूढें तो नहीं मिलेगा लेकिन उसका मात्रात्मक दृष्टि से मूल्य होता है। कहीं तो जानबूझ कर होता है कि आज एक आलोचक, वस्तुगत विवेचक न रहकर पैरोकारी करते हैं और आपका Intension होता है मार्क्सवादी जनक्रांति। वह ठीक है लेकिन विवेच्य कवि है उसकी दुर्दशा हो जाती है। और यही कारण है कि प्रगतिशील आन्दोलन में रामविलास शर्मा का इतना विरोध हुआ। यशपाल को देखिए उन्होंने जनता का चित्रण किया उनका यथार्थवादी लेखन है लेनिक उन्होंने जो Sexual Freedom का जो वर्णन किया उसको लेकर यशपाल को घिसा और उनके गुणों की कहीं प्रशंसा नहीं की। रांगेय राघव के साथ भी यही हुआ। रांगेय राघव, चूंकि तमिल प्रदेश से आने वाले विद्वान हैं उन्होंने आर्यों के उस समय तक के इतिहास को पढ़ा। मैं इन बातों को व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ। तमिल रांगेय राघव के बारे में लिखा कि उनकी इतिहास दृष्टि नस्लवादी थी और वह तमिलों को आर्यों के खिलाफ खड़ा करते हैं जबकि उनकी कविता में यह बिल्कुल स्पष्ट है। एक उपमा उन्होंने दी कि जिस तरह आर्यों का विरोध द्रविड़ों ने किया उसी तरह से आप पूंजीवाद का विरोध करें। उसे एक अत्याचार के प्रतीक रूप में उन्होंने दिखाया था तो उनको नस्लवादी घोषित कर दिया। रांगेय राघव मर गये लेकिन उनके मन से कभी भी वह अन्याय नहीं निकला, लगातार उन्हें खटकता रहा। एक लेखक का व्यक्तित्व कृतित्व किस तरह नष्ट होता है, किस तरह विकृत होता है, वह आवेश में आकर कहाँ पहुँच जाता है इसका सबसे बड़ा नमूना रांगेय राघव और रामविलास शर्मा के बीच में मिलता है। नवयुग में उनके लेख में कैसी ज्यादतियाँ हुईं, आप देख सकते हैं इसी तरह आप तुलसीदास की व्यवस्था को लीजिए। रांगेय राघव ने लिखा कि तुलसी दास ने पुराणों का पुनरावर्तन किया वर्णाश्रम धर्म का समर्थन किया इसलिये उनमें प्रतिक्रियावादी तत्त्व बहुत थे पर रामविलास शर्मा ने उनमें कोई प्रतिक्रियावादी तत्त्व नहीं देखा। मैंने यह आगरा में कहा और अब भी कह रहा हूँ क्योंकि मैं प्राचीन भारतीय शास्त्रों को वर्षों से पढ़ता रहा और उस परम्परागत साधना साहित्य और दर्शन का विशेषरूप से मैंने अध्ययन किया है। यह एक साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे। इस शब्द का अर्थ है स्मृतियों को मानने वाला। तो वह वर्ण धर्म को मानेगा। लेनिक पं. रामविलास शर्मा ने यह साबित किया कि जहाँ जहाँ रामचरितमानस में वर्ण-समर्थन है सब चौपाइयाँ प्रक्षिप्त हैं। मैं इसे मार्क्सवाद नहीं मानता

अपना जो पसंदीदा कवि है उसमें कोई दोष न देखना। जो उसके विरोध में है उसको लेकर परिवर्तन भी आया है। उदाहरणार्थ उनके एक नवीनतम लेख के अनुसार जो संत और भक्त हैं एक स्तर पर उनमें विरोध है क्योंकि संत वर्ण-धर्म विरोधी हैं और तुलसी उसके समर्थक स्मार्त वैष्णव। एक सीमा तक उनमें एकता है क्योंकि दोनों ही प्रेम का उपदेश देते हैं, एक हद तक दोनों भेदभाव का विरोध करते हैं अर्थात् संत और वैष्णवमत को एक दूसरे का पूरक मानकर देखना चाहिए। कहाँ तक है यह विश्लेषण का विषय? लेकिन वह पूरक मानने लगे और लिखा कि तुलसी और कबीर में जितना अन्तर बताया जाता था, उतना नहीं है। तो यह बिल्कुल ठीक है। यह अच्छी बात है कि हमारे मार्क्सवादियों में परिवर्तन होता है। अंतिम उदाहरण देकर इस बात को समाप्त करूंगा और वह यह कि हजारी प्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल को लेकर रामविलास जी ने एक पुस्तक लिखी जिसमें रामचन्द्र शुक्ल में कोई दोष नहीं दिखाया। विकासवाद पर जिस पुस्तक का उन्होंने अनुवाद किया मैंने वह पढ़ी है। उसमें कहीं भी उन्होंने अध्यात्मवाद का विरोध नहीं किया लेकिन विकास वाद को जिस सीमा तक वह संसार की व्याख्या करता है, समर्थन किया। रामचन्द्र शुक्ल खुद आस्थावादी थे, तुलसी जैसे भक्त थे। तो, कहीं भी उन्होंने अध्यात्मवाद का खंडन नहीं किया। साफ साफ कहा कि विकासवाद के जरिए इसे नहीं जाना जा सकता, उसको जानने का विषय और है लेकिन उसे उन्होंने हर तरह पेश किया मानो वह भौतिकवादी हो जबकि वह भौतिकवादी नहीं है। वह उसी प्रकार के भौतिकवादी हैं जैसे वल्लभाचार्य थे जो ब्रह्म का आविर्भाव तिरोभाव मानते हैं। इसलिये उनके लिये मेरा शब्द है कि वे वस्तुगत प्रत्ययवादी थे इसलिये उनमें वस्तुगतता दिखायी पड़ती है। यही स्थिति हजारी प्रसाद द्विवेदी की है। सभी, हिन्दी के लोग जानते हैं कि द्विवेदी जी पर समाजवादियों का प्रभाव है, उसे उन्होंने बिल्कुल नहीं दिखाया और वह समाजवाद मार्क्सवाद नहीं था। आचार्य नरेन्द्र देव वाला समाजवाद था जिसमें अध्यात्मवाद की स्वीकृति थी। जो भारतीय समाजवादी हैं। (लोहिया जी को छोड़कर) अध्यात्मवादी भी हैं, समाजवादी भी तो उस नरेन्द्रदेव के समाजवाद के कारण उनमें जगह जगह लोक लोकोन्मुखता द्विवेदी जी में इस शुक्ल जी से बहुत अधिक है। शुक्ल जी संतों को एप्रिसिएट न कर सके द्विवेदी जी ने संतो को सबसे ज्यादा स्थापित किया। लेकिन रामविलास जी की पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और लोकजागरण' और अभी की पुस्तक 'हिन्दी जाति और हिन्दी साहित्य' उसमें भी उसी विषय को उठा लिया यानि यह बड़ी आश्चर्य की बात है कि इतनी बड़ी समझ है वह हिन्दी जाति की अवधारणा को स्वतंत्र रूप से विवेचित नहीं करता बल्कि इस विषय का आचार्य शुक्ल और द्विवेदी जी में मिला देता है यह मैने हंस में लिखा था कि आप विवेचक हैं तो इस Concept पर विचार करिए कि हिन्दी जाति क्या चीज है, वह है भी या नहीं या किस सीमा तक है। दूसरा अन्तर्मुक्ति पर विचार ही नहीं करते। देश में आजादी के बाद इतना Fusion हो रहा है कि सारी पुरानी जातियाँ टूट रही हैं। पंजाबी, मराठी, बंगाली, तमिल

सब एक दूसरे के प्रान्तों में रह रहे हैं। अब तो समस्या है कि एक प्रान्त में दूसरे प्रांत व जाति के लोग रह रहे हैं जिसकी संख्या लाखों में है। इसलिये जब आप Nationality का सवाल उठाते हैं तो Nationality के सन्दर्भ में सारी बात पर विचार करना चाहिए, उससे पैदा होने वाली परेशानियों पर विचार करना चाहिए। द्विवेदी को बिसरा व शुक्ल को सर्वत्र सिद्ध करना। इन आग्रहों से एक लाभ भी हुआ। क्योंकि मैं तो कहता हूँ कि हिन्दी आलोचना की सशक्त शक्ति है द्वन्द्वात्मक आलोचना। उसमें तथा कथित स्वतंत्र आधुनिकों जैसी न अलगाव है न बीमारी है न ह्रास है, उसमें जंग है, युद्ध है। यह लडाकू आलोचना है। साहित्य को उससे यह भारी लाभ हुआ कि उससे गद्य का बहुत विकास हुआ। हमारे साहित्यकार विद्यार्थी आलोचक या लेखक है उन पर अभी की कविता का इतना असर है कि वह यह नहीं समझना चाहते कि हमारी सारी शक्ति गद्य है। डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना ने कितना सशक्त गद्य प्रस्तुत किया है उसको भी देखना चाहिए। सहमति या हमारी असहमति हो सकती है। लेकिन द्वन्द्वात्मक की शक्ति उसमें दिखाई पड़ती है।

डॉ. मिश्रा - इसी क्रम में पोलिमिक्स की क्या भूमिका रही है?

डॉ. उपाध्याय - पोलिमिक्स को ही द्वन्द्वात्मक या शास्त्रार्थ आलोचना आप कहिए। एक ज्ञान का आलोचनात्मक द्वन्द्व युद्ध आप उसे कहिए। उसमें जो प्रतिपक्ष है उसको रगड़ने, कई जगह उसे नीचा दिखाने और कई जगह उसको मिसइण्टरपेट करने तक की प्रवृत्तियाँ आपको आलोचना में दिखाई पड़ेगी। कई जगह जिसका वह विरोध करते हैं उसकी उन्हीं में न्यूनताएँ भी सामने आएंगी मतलब उसका भी अध्ययन विवेचन होना चाहिए। उसके विषय में कोई एक सामान्य राय न बनाकर जैसे कह दिया कि यह तो द्वन्द्व युद्धात्मक है जो उसमें भी कई पोईन्ट हैं।

वस्तुगत विवेचना हम विवेचकों का नारा है तो उसमें भी जो अच्छे पोईन्ट है चाहे वह रामविलास शर्मा की आलोचना हो, नामवर सिंह की हो, शिवकुमार मिश्र की हो या रमेशकुंतल मेघ की हो या विश्वम्भर नाथ उपाध्याय की हो या सुरेन्द्र चौधरी की हो, सबके प्रति हमारा ऐसा भाव होना चाहिए तब हमारी कद्र आगे चलकर होगी, तब लोग समझेंगे कि आप लोगों ने अच्छा किया उनकी नजर साफ थी उनकी संगति इरादे की नहीं बल्कि विवेचना में यह कमी रह गयी। इस तरह से जो हिन्दी की आलोचना है, बहुत ही प्रतिबद्ध सशक्त, जीवन्त, ज्ञान-विज्ञानात्मक, परम प्रबुद्ध आलोचना है और हिन्दी साहित्य की सशक्त विधाओं यथा कविता, कहानी और आलोचना। उसके बाद उपन्यास, नाटक आता है। आलोचना की भूमिका साहित्य को प्रभावित करने में इतनी अधिक है कि अभी तक उसका कोई मूल्यांकन हुआ नहीं है यानि अकेले डॉ राम विलास शर्मा, चाहे आप यह उनका चमत्कार कहें, महत्ता कहें। पहले आचार्य द्विवेदी ने पूरे साहित्य की पीढ़ी को प्रभावित किया उतना किसी ने नहीं किया क्योंकि उस समय प्रारंभिक लेखक लिखना सीख रहे थे। उसके बाद व्यक्ति स्वातंत्र्य का युग आया तो

उसमें आलोचकों को साहित्य से बाहर निकालने की भी पेशकश हुई लेकिन उन्हें निकाला नहीं जा सका। उसका कारण यह है कि अलोचकों ने केवल विश्वबोध या विचारधाराअें का प्रस्तुतीकरण नहीं किया बल्कि उन्होनें अपने समय के साहित्य पर भी लगातार लिखा। समीक्षाएं भी लिखी, विवेचन भी किया। जो हिन्दी आलोचना की शक्ति है, हिन्दी आलोचना ने केवल लड़ाई साहित्य की सत, अच्छे साहित्य की समाजपरक साहित्य हो, उस साहित्य में गहराई हो, उसमें ऊचाई हो, यानि कि बहुआयामी हो, एकायामी मात्र न हो, केवल सपाट या नकरात्मक न हो। आप स्वयं मार्क्सवादियों को देखिये कि शुरू में उन्होंने नारात्मक, प्रचारात्मक साहित्य को प्रोत्साहन दिया, बाद में उसका विरोध किया। उसकी सामाजिक आन्दोलनात्मक शक्ति को मानने पर भी किसी भी जिम्मेदार आलोचक ने किसी भी प्रचार को कविता नहीं माना। उनके ध्यान में हमेशा रहा कि यह प्रचार है तथा यह कविता है, और यही कारण है कि साहित्य का सही विवेक प्रस्तुत होने के अलावा उनका बहुत बड़ा काम सही दृष्टिकोण के लिए लड़ाई है जो हर आलोचक, विशेष रूप से मार्क्सवादियों ने लड़ी। हिन्दी आलोचना में सारा वैचारिक संघर्ष दो स्तर पर है। एक है दृष्टिकोण की लड़ाई, मूल्यों की लड़ाई जिसमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण, मार्क्सवादी विश्वबोध मार्क्सवादी समाजवादी मूल्यों के लिये लगातार लड़ते हैं सभा में, साहित्य में हर जगह कक्षाओं में भाषण वक्तव्यों में। दूसरी ओर मार्क्सवाद विरोधी अथवा तथाकथित तटस्थ मान सकते हैं। यानि जो केवल साहित्य की उत्कृष्टता को देखते हैं और उनका कोई दृष्टिकोण नहीं है, उन्हें आप तटस्थ साहित्यकार या आलोचक मान सकते हैं। हिन्दी में बहुत हैं, बहुमत भी उनका है। लेकिन बीच में तटस्थ आलोचक हैं यथा- नन्द दुलारे वाजपेयी यद्यपि वाजपेयी का दृष्टिकोण साहित्यिक उत्कर्ष को लेकर लिखने का था। हजारी प्रसाद द्विवेदी मार्क्सवादी नहीं थे। लेकिन उनका विश्वबोध लोकोन्मुख था। उन्हें लोकमंगल की बड़ी चिन्ता थी, हालांकि उनके लोकमंगल का स्वरूप शुक्ल जी से कई जगह टकराता है। कई जगह मिल जाता है। खैर यह तो विवेचन का विषय है। सारांश यह है कि तीन प्रकार के दृष्टिकोणों के वैचारिक संघर्ष मिलते हैं जो उच्चस्तरीय, उत्कृष्ट हैं। सशक्त और शक्तिनिष्ठ भी हैं, एक सीमा तक उसमें पक्षपत भी है जो आलोचना में स्वाभाविक है। तीन स्तरों में एक तटस्थ आलोचक जो केवल साहित्यिक उत्कर्ष, साहित्य को विचार धारा से अलग करना चाहते हैं। तथा दोनों का ही विरोध करते हैं। वह मार्क्सवादी विरोधियों के भी आलोचक हैं जो पूंजीवादी मूल्य तथा व्यक्तिवाद को लाना चाहते हैं। दूसरी ओर वह समाजवादी, मार्क्सवादियों के भी विरोधी हैं। यह तटस्थ आलोचक हैं जो बहुत हैं। अधिकांशतः वह साहित्य की चिन्ता करते हैं। विचारधारा के चक्कर में नहीं पड़ते। अधिकांश लेखक ऐसे भी मिलेंगे जिन्हें विचारधारा का कोई ज्ञान नहीं है। लेकिन लिखते रहते हैं। आलोचना के ध्रुवीकरण में एक ओर व्यक्तिवादी हैं, प्रयोगवादी, प्रयोगशील हैं जो आधुनिकता की व्याख्या करते हैं वह Experiment है, कोई और व्याख्या नहीं। मूल्यों को वह न मानकर उन्हें व्यक्ति

केन्द्रित मानते हैं और मार्क्सवाद के तो पक्के दुश्मन हैं क्योंकि वह सारे समाज को एक विचारधारा पर चलाना चाहता है और Militent Society बनाकर सारी गरीबी विषमताएं दूर कर देना चाहता है। लेकिन वह वैचारिक सजगता उसमें नहीं लाना चाहता और उसमें बहुत्ववाद नहीं है। विभिन्न विचारधारा की दृष्टियों का उसमें स्वीकरण नहीं है। इसलिये जो हमारे आलोचना ध्रुव हैं, निर्माण की दृष्टि से, व्यक्तिवादी और मार्क्सवादी हैं। बहुमत साहित्य के अध्यापकों, मर्मज्ञों या विशेषज्ञों का है वे न इस ध्रुव को न उस ध्रुव को मानते हैं। अगर आप अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तुलना करें तो हिन्दी की आलोचना का क्या स्थान है? यह तो निर्णय होना चाहिए। क्या हम केवल पाश्चात्य अथवा परम्परागत भारतीय आलोचना के अनुवादक हैं क्या हमारा कोई आलोचनात्मक व्यक्तित्व या कृतित्व ऐसा है जिसको आप तुलनीय कहें कि यदि हमारी रचनाओं का अनुवाद विभिन्न भाषाओं में हो तो क्या वे बाहर के उत्कृष्ट आलोचकों के बराबर ठहरती हैं। लोग यह कहते हैं कि हिन्दी में लुकाच की टक्कर का कौन (मार्क्सवादी) है। प्रश्न जायज है क्योंकि बड़े कृतित्व के आधार पर बड़ा व्यक्तित्व पैदा होता है जोकि चिंतन की दिशा को मोड़ देता है पूरी पीढ़ी को प्रभावित करता है। इस दृष्टि से हिन्दी में पहला नाम निश्चित रूप से डॉ. रामविलास शर्मा का आता है उनके ग्रंथों का जिस दिन अंग्रेजी में अनुवाद होगा उस दिन वे लोग यह कहना तो न भूलेंगे कि हर व्यक्तित्व, कृतित्व के पौधे होते हैं, पुष्प होते हैं, उनमें हरेक एक सीमा तक अद्वितीय होता है, अनुपम होता है उसकी कदर होती है, होनी चाहिए। लेकिन अगर आप की तुलना करे तो यह प्रश्न आलोचना में आयेगा कि लुकाच बड़ा है या रामविलास। तो हम कहते हैं कि यदि लुकाच जीवित होते और वे डॉ रामविलास शर्मा की पूरी पुस्तके पढ़ते तो वे डॉ रामविलास शर्मा को अपने बराबर इज्जत देते। लुकाच का नाम लेकर हिन्दी आलोचकों को निम्न दृष्टि से देखने वालों को मेरा उत्तर यह है एक जमाने में शिवदान सिंह ने बड़ा बुनियादी काम किया था। आज भी उनके सैद्धन्तिक यथा 'साहित्य की परख' आदि निबन्ध पढ़े तो आपकी आंखें खुल जाती हैं। साहित्य की परख पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ कि वह आदमी नवीनतम आलोचनात्मक प्रणालियाँ जो पूंजीवादी देशों में विकसित हुई, का खण्डन करता है और मार्क्सवाद की स्थापना करता है, एक प्रतिमा पेश करता है। शिवदानसिंह भी एक बड़े आलोचक हैं लेकिन रामविलास ने काम बहुत किया तो वे उनसे भी बड़े हो गये। काम बन्द करने के कारण शिवदान सिंह तटस्थ हो गये। इसी तरह से रामविलास शर्मा के बाद जो मार्क्सवादियों की पीढ़ी आयी उसके आलोचक क्या नगण्य हैं? नहीं, वे भी बड़े आलोचक है। उनमें डॉ. नामवर सिंह, डॉ. शिवकुमार मिश्र, रमेश कुंतल 'मेघ' ने काम किया तो यह किसी भी भाषा के गौरव हो सकते हैं क्योंकि उनका चिंतन मनन उपेक्षणीय नहीं। उसमें उन शैलियों पर कार्य हुआ है जो कि डॉ शर्मा ने किया ही नहीं था उन्होंने उस चिंता को न केवल आगे बढ़ाया बल्कि उसे Correct भी किया। स्वयं डॉ रमाविलास शर्मा के प्रति आस्था, प्रशंसा और श्रद्धा का भाव होने पर भी नहीं जहाँ उनको यह लगा

कि यह गलत है को balacne किया, शुद्ध किया और कार्य जारी है। इसके अलावा डॉ रमेश कुंतल 'मेघ' ने मिथक शास्त्र के सूत्र को विकसति किया और मैं समझता हूँ कि योरूप की टक्कर का उनका काम है। खासतौर से concepts तो वही है जो पाश्चात्यों ने निकाले लेकिन उनका प्रयोग तो उनका अपना है। जैसे उन्होंने तुलसीदास में भारतीय मिथ की जो व्याख्या की है। तुलसीदास वह लोग नहीं लिख सकते जिन्होंने मिथ पर लिखा है। उन्होंने कविता में पहली बार मिथकीय आधार पर विश्लेषण किया है। बिल्कुल मौलिक है। इसी प्रकार, साहित्य को या प्राचीन साहित्य को लेकर जो रामविलासोत्तर आलोचना है जैसे परम स्वतंत्र आलोचक जैसे रामस्वरूप चतुर्वेदी और अन्य दूसरे बहुत से आलोचक हैं जो नगण्य नहीं हैं। उनको नीची नजर से देखना उनकी सारी हिन्दी आलोचना के प्रति अन्याय है। यह काम वह करते हैं जो आलोचकों से आलोचना में चिंतन बंद करते, दृष्टिकोणों की लड़ाई न लड़ने समााजिक चेतना की बात न करने, रचना के केवल विश्लेषण की अपेक्षा रखते हैं। साहित्य की एक सीमा है। सारे कवि, लेखकों, आलोचकों पर कोई नहीं लिख पाता तो वह उनकी समार्थ्य शक्ति की कमी हो सकती है।

लेकिन कोई इरादा ऐसा नहीं, यदि उनके पास साधन हो। जैसे समय मिलने का मैंने समकालीन कविता का निरूपण किया और उसे नई कविता से अलग किया खासतौर से ऐसी कविता जिसे हम प्रयोगवादी कहते हैं, अर्थात् जो व्यक्तिवाद से सीमित है और इस कविता से अलग किया जो कि मार्क्सवाद से प्रभावित थी जिसमें त्रिलोचन, मुक्तिबोध धूमिल व उसके बाद के कवि आते हैं। यानि उन दोनों को बिल्कुल अलग-अलग किया और हिन्दी में उसको स्वीकार कर लिया गया। समकालीन कविता मेरा नाम था जिसे मैंने चलाया, आज पर्चों तक में।

उस समकालीन कविता का प्रयोग हो रहा है, चल पड़ा। मैंने समकालीन कहानी पर भी पोथी लिखी, समय मिलता तो औरों पर भी करते। अब फिर दुबारा कार्य करने की जरूरत है। अंत में आपका प्रश्न कि . . . . . हिन्दी आलोचना की कोई अपनी प्रवृत्ति बिल्कुल मौलिक है। हिन्दी आलोचना को अगर देखना हो तो आप महावीर प्रसाद द्विवेदी से शुरू करिए और हिन्दी की अपनी आलोचना को आचार्य शुक्ल ने खड़ा किया यद्यपि उन्होंने पाश्चात्य व भारतीय अवधारणाओं का प्रयोग किया और विशेष रूप से उन्होंने जो अपना प्रतिमान खड़ा किया वह 'रस' सिद्धान्त पर किया। जैसे मैंने कहा जो Operational Aspects हैं, वहाँ हिन्दी की मौलिकता है माने वह उस प्रत्यय का अपने विश्लेषण में प्रयोग किस तरह करते हैं। रस सिद्धान्त वही है जिसका विवेचन पं. जगन्नाथ ने किया था, प्रयोग भी किया लेकिन वह आचार्य शुक्ल के रस सिद्धान्त से थोड़ा भिन्न है क्योंकि उन्होंने उसमें नई-नई धारणाएं पैदा की जैसे शीलदृष्टा, रस दृष्टा, अलग होते हैं। उपन्यास में आप चरित्रों का वर्णन पढ़ते हैं। बहुत जगह चरित्रों की अनुपमेत्ता, नवीनता आपको प्रभावित करती है। तो आप गद्गद् कहाँ होते हैं आप देखते

रह जाते हैं। यह मौलिक Concept आचार्य शुक्ल ने दिया इसलिये आप कैसे कह सकते हैं कि वह नकल कर रहे हैं। माओत्सेतुंग ने एक जगह लिखा है कि हमें अपनी शब्दावली परम्परा से लेनी चाहिए उसमें content नया होना चाहिए। तो हमारे हिन्दी आलोचकों, चिंतकों ने शब्दावली भारतीय काव्यशास्त्र से ली है। लेकिन उनका content समय की चुनौतियों को ध्यान में रखकर नया है। आचार्य शुक्ल की आलोचना तो शुद्ध हिन्दी की आलोचना है। वह न तो संस्कृत की नकल है और न आई.ए. रिचर्ड वगैरह की। प्रभाव तो है, कार्लमार्क्स पर भी था। अगर हीगेल न होते तो कार्लमार्क्स नहीं पैदा हो सकते थे। उन्होंने हीगेल की धारणाएं ली और उलट दी। अर्थ बिलकुल दूसरा लिया, शब्दावली वही है। कार्लमार्क्स की मौलिकता पर अभी कोई गम्भीर विचार नहीं हुआ उनकी शब्दावली का अभी तक कोई अध्ययन नहीं हुआ। शब्दावली के अध्ययन से पता चलेगा। मैंने एक पुस्तक में लिखा है 'समकालीन मार्क्सवाद' में कठिनाई यह है कि उनकी सारी भाषा आदर्शवादियों की, प्रत्ययवादियों की भाषा है। यह मानवीय स्तर को मार्क्सवादी कैसे निकाले क्योंकि आप कहते हैं जो हुआ है वह तो Content है। एक ओर Abstraction शब्द का प्रयोग करते हैं कि Abstraction नहीं होना चाहिए लेकिन चिंतन तो Abstraction है? प्रत्ययवादियों के Abstraction और हमारे Abstraction में क्या अन्तर है। अन्तर यह है कि हम भी संज्ञा भाववाचक का प्रयोग करेंगे। लेकिन हमारी संज्ञा भाववाचक/व्यक्तिवाचक संज्ञा अर्थात सामाजिक संदर्भ से जुड़ी रहेगी। यथार्थ से जुड़ी रहेगी। हम यथार्थ को चिन्तनात्मक भाषा में प्रस्तुत करते हैं। और वह यथार्थ से परे जाकर केवल शुद्ध चेतना तक सीमित होकर केवल निरपेक्ष चेतना का विश्लेषण करने लगते हैं इसलिये हम प्रत्ययवाद को वैज्ञानिक नहीं मानते क्योंकि अगर केवल शुद्ध चेतना है, समाज शरीर नहीं है तो वह कहाँ से आयी। हिन्दी की आलोचना न रूढ़िवादी आलोचना का अनुवाद है, यह सही है कि जो अध्यापकों की आलोचना है, पाश्चात्य आलोचकों का अनुवाद है उसमें उनका अपना कुछ नहीं है। उसे प्रस्तुत कर दिया। विद्वत्ता की दृष्टि से वह भी जरूरी है छात्रों की दृष्टि से जरूरी है लेकिन उसे आप आलोचना नहीं कहते। लेकिन, हमारे बड़े-बड़े आलोचक जिन्हें आप केवल अध्यापक कहकर आलोचना करते हैं, ने देशी-विदेशी सारे काव्य शास्त्र को मथकर जो देशी धारणाएं हैं, को स्वीकार करते हैं आपको आश्चर्य होगा कि रामविलास शर्मा इस सिद्धान्त को मानते हैं। रांगेयराघव इस सिद्धान्त को मानते हैं उसका कोई विरोध नहीं करता, चूंकि मैं काव्य शस्त्र का आदमी था इस सिद्धान्त की कठिनाई के कारण लगातार यह साबित किया कि ध्वनि सिद्धान्त को मानना चाहिए उसमें रस सिद्धान्त भी आ जाता है। और सारी आलोचना करना कविता में जितने भी प्रकार हैं, ध्वनि सिद्धान्त में आ जाते हैं। लेकिन उसे मानने का अर्थ यह नहीं कि उसे आप भाषा, व्याकरण शैली विज्ञान तक सीमित कर दें। उसके साथ जो सामाजिक क्रांतिकारी दर्शन है उसका प्रयोग करने में आपको कौन रोकता है। इसलिये मैंने विनोद और विवेचन हेतु एक सूत्र बनाया है कि जो

भारतीय काव्य शास्त्र का ध्वनि वाद है, धर्म मार्क्सवाद है। उसको मिला देने से सामाजिक काव्य शास्त्र की रचना हो सकती है। Social Poetics का आधार साहित्य के क्षेत्र में प्रतिमान और प्रक्रिया के लिये भी ध्वनि वाद जरूरी है। क्योंकि ध्वनि ही कविता हो सकती है। कविता कविता नहीं हो सकती। मैं आ रहा हूँ, तुम आ रहे हो यह कोई कविता नहीं है जो उसे कविता मानते हैं, केवल सामाजिक आग्रहों के कारण मानते हैं। भारतेन्दु ने टैक्स के खिलाफ जो कविता लिखी है कोई कविता नहीं है। रामविलास उसके बारे में कुछ भी नहीं कहते। इसलिये कि इसमें सामाजिक असंगतियों का विरोध होना चाहिए। रामविलास शर्मा की आन्दोलनात्मक, नारात्मक कविताएँ क्या कविता है? लेकिन उन्हीं के रूप तरंग में उनकी कई कविताएं जहाँ किसानों का वर्णन, फसल का वर्णन है उसमें कविता आ जाती है। तो हर तरह से कविता के विवेक हेतु हम भारतीय काव्य शास्त्र की मूल धारणाओं को इस्तेमाल कर सकते हैं सामाजिक चेतना के साथ उसका विवेचन होगा इसलिये Social Poetics के विकास की आवश्यकता को मैंने रेखांकित किया है और उसके नमूने भी आए है विश्लेषण में। मैं Model हूँ या नहीं लेकिन प्रयोग हो रहा है। मैं जो लिखता हूँ वहीं तो Social Poetics का Operation हो रहा है। मेरी टिप्पणी, वक्तव्य में सामाजिक चुनौती, चिन्ता या परिवर्तन की बेचैनी या बोध बुना हुआ रहता है। हम किसी कवि की उक्ति की विलक्षणता को दिखाते हैं और फिर उस विलक्षणता की प्रासंगिकता भी दिखाते हैं तो यही तो Social Poetics है और क्या हो सकती है। वह कोई रहस्यवाद थोड़े ही है। तो यह मैं समझता हूँ कि हिन्दी का अपना काव्य शास्त्र है। और उस काव्य शास्त्र को हजारी प्रसाद द्विवेदी मानते हैं। द्विवेदी जी शुक्ल जी से बड़े विद्वान थे। हजारी प्रसाद द्विवेदी का जितना अधिकार था प्राचीन शास्त्र में उतना शुक्ल का नहीं। आचार्य शुक्ल ने तो केवल साहित्यदर्पण पढ़ा था। यह तो एक तथ्य है। मैंने यह अनुसंधान किया। उनके जमाने में अभिनव भारती थी ही नहीं। उसको पढ़ते तो संभव था उनका दृष्टिकोण बदल जाता क्योंकि वह एक अद्भुत ग्रंथ है। उसे पढ़ने पर आप कालरिज को भूल जाएंगे क्योंकि सारे साहित्य की, मनुष्यता की किसी न किसी सीमा को, किसी भी बिन्दु को समेटते हुए बड़ी गहराई से लिया। आचार्य अभिनव गुप्त ही सबसे बड़ा साहित्य का दार्शनिक है केवल आलोचक नहीं। कालरिज से ज्यादा मौलिक है क्योंकि कालरिज ने जर्मन तत्व ज्ञान को लेकर रचना की। जिस तरह संस्कृत में हमने अभिनव गुप्त पैदा किया उसकी भी नकल हमारे लोगों ने नहीं की। इसलिये आचार्य शुक्ल ने उसे स्थापित किया, हिन्दी आलोचना आलोचनात्मक सिद्धान्त व्यवहार को सैद्धान्तिक आलोचना की और द्विवेदी ने उसे आगे बढाया। डॉ रामविलास शर्मा ने मार्क्सवाद के क्षेत्र में उसका अपने ढंग से प्रयोग किया। उसी परंपरा में हमसे जो बन सका किया। उसके बारे में स्वयं कुछ कहना अहंवाद होगा, यह हमारी परम्परा भी नहीं है, संस्कृति भी नहीं है। हम तो काम करते हैं और छोड़ देते हैं भैया आप जानो।

शोध

भारत की भावनात्मक एकता के अनन्य उपासक : ब्रजभाषा-कवि श्री सत्यनारायण 'कविरत्न'

डॉ. कृष्ण चन्द्र गोस्वामी

श्री सत्यनारायण 'कविरत्न' (जन्म तिथि : 24 फरवरी, 1880, निधन 16 मार्च 1918 ईस्वी) हिन्दी साहित्य के संक्रांति काल के शीर्षस्थ कवियों में से एक है। यह वह समय था जब हिन्दी-साहित्य में भाव-परिवर्तन की प्रक्रिया अत्यन्त प्रखर थी। वस्तुत: इस काल-खण्ड की पृष्ठभूमि से संक्रिय रीतिकालीन भाव-बोध पदमाकर, ग्वाल, ठाकुर, बोधा और सूदन जैसे राज्याश्रित तथा चाचा वृन्दावन दास, भगवत रसिक और हठी जी जैसे भक्त कवियों की प्रातिभ-सन्निधि के बावजूद समसामयिक परिवर्तनों के दबाव को सह सकने में समर्थ नहीं हो पा रहा था। यह ठीक है कि इस काल-खण्ड में कवियों की संख्या कम नहीं थी और कविताएँ भी बहुतायत से लिखी जा रही थी। किन्तु उनमें न तो अनुभूतियों का नवोन्मेष दिखायी पड़ रहा था और न अभिव्यक्ति में नवताजन्य आकर्षण। परिणामत: रचना-रूपों की रमणीयता निष्प्रभ हो चली थी। उस काल के सच्चे कवि कविता की इस दुर्दशा को देखकर समय के देवता के सामने अपनी विवशता से व्यथित थे। **'लोगन कवित्त कीन्हौं खेलि करि जान्यौं है।'** - का अनुभव उनके हृदय से शूल की तरह पीड़ा दे रहा था।

ऐसी स्थिति में रीतिकालीन काव्यभाषा में विद्यमान विदग्धता और रीतिबद्धता से, चमत्कार और नाजुक ख्याली से ब्रजभाषा की मुक्ति को प्राय: असम्भव मानकर तत्कालीन रचनाकारों ने बड़ी संख्या में जहाँ एक ओर खड़ी-बोली में भविष्य की राह खोजना प्रारम्भ किया, वही दूसरी ओर, ब्रजभाषा-काव्य के भाव-बोध की दिशा बदल कर उसे इस योग्य बनाने की कोशिश प्रारम्भ की जिससे वह सामायिक चुनौतियों का प्रत्युत्तर देने में समर्थ हो सके। ऊपर की पंक्तियों में हमें जिसे **'हिन्दी साहित्य का संक्रांति-काल'** कहा है, उसके प्रथम चरण में इस प्रकार के प्रयत्नों का चरमोत्कर्ष यदि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कर्त्तव्य में प्रकट हुआ तो द्वितीय चरण में इस तरह के प्रयत्नों का नेतृत्व

ब्रजभाषा कवि श्री सत्यनारायण 'कविरत्न' ने किया। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इन दोनों चरणों को क्रमशः भारतेन्दु-युग और द्विवेदी युग नाम दिया है।

ब्रजभाषा-काव्य के विकास क्रम में भारतेन्दु बाबू का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने ब्रजभाषा-काव्य को देश-दशा एवं देशवासियों के सुख-दु:ख से जोड़कर और देश के प्राकृतिक-सौन्दर्य के चित्रण का माध्यम बनाकर बड़ी दूर तक नये भाव-बोध से समृद्ध किया। इस सबके बाद भी भारतेन्दु के काव्य में रीतिकालीन अभिरूचियों की मिलौनी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रही। इसका कारण कदाचित् यह रहा कि कालक्रम से वे रीतिकाल के ही उत्तराधिकारी थे। भारतेन्दु ने पारम्परिक काव्यभाषा- ब्रजभाषा को युगानुरूप समर्थ बनाने और अपनाने का जो आदर्श हिन्दी भाषियों के सामने रखा वह उनके जाने के बाद यथावत् प्रतिष्ठित न रह सका और उसके स्थान पर गद्य की तरह पद्य में भी खड़ी-बोली को अपनाने का आग्रह बढ़ने लगा। महावरी प्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में 'सरस्वती' हिन्दी काव्य भाषा के इस परिवर्तन का माध्यम बनी। इस सबके परिणाम स्वरूप जैसा कि स्वावभाविक था; ब्रजभाषा की प्रतिष्ठा शनै:शनै: कम होने लगी।

सत्यनारायण 'कविरत्न' पर भारतेन्दु की दृष्टि का गहरा प्रभाव था- जैसा कि हम उनके भाव बोध पर विचार करते हुए आगे देखेंगे। इसलिये भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने भारतेन्दु जी की नीति का जीवन-पर्यन्त दृढ़ता से पालन किया। श्री भवभूति रचित 'उत्तररामचरित' और 'मालतीमाधव' नाटकों के अनुवाद में 'कविरत्न' ने यदि संवादों में प्रांजल और प्रवाह पूर्ण खड़ी-बोली गद्य का उपयोग किया है तो संस्कृत के श्लोकों की भाव-सम्पदा को ब्रजभाषा के सुमधुर सवैयों में निबद्ध किया है।

ब्रजभाषा को ब्रजवासियों में उपेक्षित देख उनकी क्या दशा होती थी- यह उनकी **'श्री ब्रजभाषा'** शीर्षक से लिखी लम्बी कविता से पता चलता है -

क्यों जासों मन फिरयौ कृपा करि कछुक जतावौ।
वृथा आतमा या ब्रजभाषा की न सतावौ।।
मातृ हृदय कौ प्रेम, मातृ हृद ही में आवै।
ताकौ पावन स्वाद और सों कबहुँ न पावै।।
निरालम्ब यह अम्ब याहि अवलम्बन दीजै।
तन सौ मन सौं धन सौं, याकी रच्छा कीजै।।

देश-प्रेम की प्रथम कड़ी 'निजभाषा प्रेम' है और उसका चरम विकास देश की भावनात्मक एकता को पुष्ट करने के लिए किये गये पुरुषार्थ में दृष्टिगोचर होता है।

'कविरत्न' की इन पंक्तियों की पृष्ठभूमि में भारतेन्दु के '**निजभाषा उन्नति अहै ....**' की अनुगूँज स्पष्टत: विद्यमान है।

देश की भावनात्मक-एकता और 'कविरत्न' के कविकर्म पर कुछ भी कहने से पूर्व इस भावनात्मक एकता की मूल प्रकृति पर संक्षेप में विचार करना, यहाँ समीचीन होगा। अनादिकाल से हमारे देश का विकास जिस तरह से हुआ है उसके कारण हमारी एकता का आधार राजनीति प्राय: नहीं रही। यहाँ तक कि तब भी नहीं, जब देश में चक्रवर्ती साम्राज्य बने। वैदिककाल से लेकर विवेच्य समय तक इस देश के दार्शनिकों, धर्मवेत्ताओं, कवियों और कलावन्तों को अपनी उदात्त-दृष्टि और सर्जनात्मक प्रतिभा के बल पर जिस भाव-लोक का निर्माण किया, वही हमारी तमाम जातियों, भाषाओं, आचारों, विचारों, रंग-रूपों, पहनावों और उपासना-पद्धतियों में विद्यमान वैविध्य का अतिक्रमण कर भावनात्मक आधार पर भारतवर्ष नाम का एक ऐसा देश बना सके जिसे महर्षि वेदव्यास ने '**कल्पायुषां स्थनजयात्पुरनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्**' (भागवत - 5-10-23) कहकर सराहा है। * वस्तुत: '**मातृ भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्या**' के साथ जिस भाव सम्बन्ध को हमने वैदिककाल में ही पहचान लिया था, वही आगे चलकर हमारे स्वत्वबोध की कसौटी बना और अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष के समय '**वन्देमातरम्**' होकर हमें देश पर सर्वस्व न्यौछावर करने को प्रेरित करता रहा। 'कविरत्न' की कविताओं में देश के प्रति मातृत्व का यह भाव अत्यन्त प्रखर है, प्रबल है। और इसी भाव-सम्पदा के सहारे उन्होंने देश की भावनात्मक एकता की अनन्य उपासना की है।

ब्रजभाषा के प्रति कवि के जिस अनुराग और आत्मीयतापूर्ण विकलता का उल्लेख हमने ऊपर किया है, वह किसी प्रकार के भाषावाद या क्षेत्रवाद की भावना से प्रेरित नहीं थी, अपितु देश की भावनात्मक-एकता में ब्रजभाषा के योगदान के कारण ही 'कविरत्न' उसका संरक्षण चाहते थे। राष्ट्रभाषा का मुख्य काम देशवासियों के हृदयों को परस्पर निकट लाना है और इस कार्य को ब्रजभाषा भक्तिकाल से ही करती चली आ रही थी। 'कविरत्न' ने ब्रजभाषा के इस कार्य की इन शब्दों में चर्चा की है-

बंग और महाराष्ट्र सुभग गुजरात देस में।
अटक कटक पर्यन्त कहिय भारत असेस में।।
एक राष्ट्र भाषा की त्रुटि जो पूरित आई।
इतने दिन सौं करति रही तुम्हारी सेवकाई।।

देश के नवयुवकों का आह्वान करते हुए 'कविरत्न' ने जो कुछ लिखा है उससे उनकी अखिल भारतीय दृष्टि स्वयमेव ध्यान में आ जायेगी। कवि ने लिखा है-

देश के कोमल हृदय कुमार!

कीजिये मातृभूमि उद्धार, कीजियै नवजीवन संचार।

कीजियै भ्रातृ प्रेम विस्तार, कीजियै हिन्दी सत्य प्रचार।

संक्रांति काल से पूर्व हिन्दी-साहित्य की विषयवस्तु प्रधान रूप से नायिकाओं के रूप सौन्दर्य और श्रृंगार भावनाओं के चित्रण तक सीमित थी। परम्परा से प्राप्त भगवद् भक्ति की भावना के चित्रण नगण्य, फिर भी दूसरे स्थान पर थे। भारतेन्दु के हाथों इस भगवद्भक्ति के साथ भारत-भक्ति का संगम हुआ और नायिकाओं के रूप-सौन्दर्य और श्रृंगार भावनाओं की वृत्ति को देश की प्राकृतिक सुषमा के चित्रण की दिशा में मोड़ने का श्रेय भी प्रथमत: उन्हीं को उनकी एक कविता है - 'विनय'। जिसका आरम्भ इन शब्दों के साथ होता है- '**मंगलमय सुनियै इतनी विनय हमारी। कीजै निज अनुपम दया भक्त भयहारी। ... .**' और फिर संसार से विद्रोह-अनल को मिटाने, मानवमात्र को सुख शांति देने, सत्पथ से दुर्नीत को दूर रखने, सब के हृदय में पवित्र-समता के भाव का उदय, स्वास्थ और स्वेच्छाचार को दूर करने की कामना के साथ-साथ कवि ने '**निजदेस दसा कौं समझे, लोग अनारी- कीजै निज अनुपम दया भक्त भयहारी।।**' कह कर विराम लिया है। इसी कविता के अगले चरणों में आत्मगौरव के जागरण की कामना, सुमति का प्राकट्य, उज्ज्वल भविष्य का विश्वास, हिन्द-देश और हिन्दी भाषा के उद्धार, घर-घर से बेर बदरिया के छँटने, अपनी पूँजी से व्यापार की वृद्धि सभी उपयोगी वस्तुओं का स्वदेश में उत्पादन, और व्यवहार करने, किसान के सदा सुखी होने तथा देसी काज के साथ सुराज का स्वाद चखने की प्रार्थना की गयी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस 'विनय' का मिजाज भक्तिकालीन विनय के पदों से भाव बोध के स्तर पर एकदम भिन्न है। इसी तरह एक अन्य शीर्षक विहीन कविता की पूर्णता इन शब्दों के साथ हुई है - '**जागै अरु जगमगाय, नवजीवन सत्य पाय- सकल भारतीय जाति, विनय ये हमारी।।**' यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'कविरत्न' की दृष्टि सर्वत्र अखिल भारतीय रही है; जैसा कि '**सकल भारतीय जाति**' से प्रकट है। यह '**अखिल भारतीयता**' की भावना-देश की भावनात्मक एकता को सुदृढ़ करने की अनिवार्य शर्तों में से एक है; यह कहने की यहाँ पर आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

यह ठीक है कि जब 'कविरत्न' तरूणाई की दहलीज पर पहुंचे; तब तक ब्रजभाषा-मध्यकालीन-काव्य-भाषा के रूप में देश की भावनात्मक-एकता को सम्पुष्ट करने का काम बहुलांश में पूर्ण कर चुकी थी और पुन: 'क्षेत्रीयभाषा' के रूप में परिसीमित होने लगी थी। ऐसी परिस्थिति में 'कविरत्न' ने अपनी उत्कट देश-भक्ति के सहारे ब्रजभाषा को सम्पूर्ण देश की चिन्ता की अभिव्यक्ति का माध्यम बनकर उसे उसके

अखिल भारतीय गौरव के अनुकूल महिमा प्रदान की। यह काम 'कविरत्न' ने किस तरह किया? यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इसे समझने के लिए हमें उनके भाव-बोध की साक्षी उनकी 'कविताई' में जरा गहरे उतरना होगा।

ब्रजभाषा के पारम्परिक - काव्य में मंगलाचरण के रूप में **'ईश-वन्दना'** का चलन रहा है। यहाँ तक कि यह काव्य-रूढ़ि हमें भारतेन्दु जी में भी दृष्टिगोचर होती है। इस दृष्टि से जब हम 'कविरत्न' की **'भारती-वन्दना'** शीर्षक कविता को देखते हैं तो ध्यान में आता है कि इस कविता का रूप तो वन्दना का ही है किन्तु वस्तु-तत्व की दृष्टि से इसमें देशचिन्ता का समावेश होने के कारण; यह सर्वथा नवीन भाव-बोध को प्रस्तुत करने वाली है। इस प्रार्थना का आरम्भ तो इन शब्दों के साथ होता है - **'जै जै मंगलमयी भारती, अखिल भुवन की बानी'** कवि शीघ्र ही देश-दशा पर उनका ध्यान आकर्षित करते हुए कहता है-

आवहु आवहु शीघ्र शारदे! वृथा विलम्ब न कीजै।
या भारत की दीन दसा लखि, क्यों नहिं हीय पसीजै।।

इसी क्रम में कवि ने माँ सरस्वती से जातीय समुन्नति के हित में भेदभाव छोड़ कर कार्य कुशलता पूर्वक अपने कर्त्तव्यों को प्रेम पूर्वक पूरा करने की शक्ति प्रदान करने की याचना आगे की पंक्तियों में की है।

श्री कृष्ण ब्रजवासियों और ब्रजभाषा दोनों के प्राण हैं। ब्रज पर जब-जब विपत्ति आयी ब्रजवासियों ने उन्हें ही पुकारा फिर देश पर गहराई विपत्तियों की घटा के समय ब्रजवासी 'कविरत्न' उन्हें टेरना कैसे भूल जाते? किन्तु यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि उन्होंने श्री कृष्ण से अपनी जन्मभूमि की दशा सुधारने की प्रार्थना करते हुए उनकी जन्मभूमि को ब्रज के भूगोल या ब्रजभाषा की सीमाओं तक सीमित नहीं रहने दिया है। अपितु आसेतु-हिमालय; पूरे देश को ही उनकी जन्मभूमि के रूप में देखा है। वे श्री कृष्ण से पूछते हैं?

मोहन! कब लौं मौन गहौगे?
निज आँखिन पै धरैं ठीकरी; कितने और रहौगे?
तुम देखत भारत-मानव-कुल; आकुल छिन-छिन छीजै।
कहा भयौ पाषान हृदै तब; जो नहिं तनिक पसीजै।।

एक अन्य कविता में, देश के प्रति अपनी करुण-भावना के साथ उन्होंने जैसे सम्पूर्ण प्रकृति को ही समेट लिया है। देश-दुर्दशा से क्षुभित अचल (पर्वत) अंचल (जड़ीभूत) होकर नदियों के रूप में अश्रुपात कर रहे हैं; सूरज देश चिन्ता में पीला पड़

गया है, वृक्षों की अरुणिम पत्तियाँ मानो उनकी आँखें हैं जो रो-रोकर लाल पड़ गयी हैं। इस कविता के कुछ अंश इस प्रकार हैं-

मोहन! अजहुँ दसा हिय लावौ।
मौन-मुहर कबलौं टूटैगी, हरे! न और सतावौ।।
अचल भये सब अचल देखिये, सरि ह्वै अश्रु बहावैं।
सूरज पियरे परे मोह बस चिन्तित दौरे जावैं।।
द्रुम तक हू के दृग नव किसलय, रोय भये अरुनारे।
दारुन देस दसा लखि बौरे ये रसाल मतवारे।।
अबला लता कलेवर कोमल कम्पित भय दरसावैं।
लम्बी लेत उसास जानियै जबै हृदय लहरावैं।।

और, अन्त में कवि कहता है-

जन्मभूमि निज जानि साँवरे! याकौं अति अभिलाखौ।
अर्ध दग्ध जड़ दसा बीच अब, अधिक न याकौं राखौ।।

इसी तरह एक अन्य कविता में कवि पुकार लगाता है-

सोवत सुखद सेस सैया पै- करत प्रमोद असेस।
जियै मरै बरु कोउ जगत में, चाहैं रहै न सेस।।
उठौ देव! अब या भारत कौं खोलि जुगल दृग देखौ।
जासौ 'सत्य' बनै सब कारज, करै न कोउ परेखौ।।

ऐसी प्रसिद्धि है कि यह कविता सत्यनारायण 'कविरत्न' ने दक्षिण की तीर्थयात्रा पर जाने वाले अपने गाँव के एक बुजुर्ग के हाथों केरल के तिरुवनन्तपुरम स्थित पद्मनाथ स्वामी के मन्दिर में भेंट करने को भेजी थी।

'कविरत्न' की एक कविता है - 'भारत विलाप' जो उन्होंने जून, सन् 1905 में लिखी थी और दूसरी कविता है - नवम्बर 1907 में लिखी गयी - 'भारत-क्रन्दन'। इन दोनों कविताओं से यह बात समझने में आसानी होगी कि 'कविरत्न' ने भगवद् भक्ति को भारत-भक्ति के साथ संगमित करते हुए किस गहराई तक एक रस कर दिया था। वस्तुतः 'कविरत्न' के लिए भारत-भक्ति ही भगवद् भक्ति की सच्ची प्रतीति थी। भारत-विलाप से कुछ पंक्ति देखें -

काहू की बेर उधारेहि पाँयन, आतुर भाति सबै दुख खोये।
भारत बेर अबेर करी तुम, हाय! कहाँ करुणनिधि सोये?

रैन दिना कल नाँहि परै, अजहूँ तुम केसव नींद में सोये।
दु:ख के जालहिं लेहु समेट, जो भारत में चहुँ और बिछी ये।।
जोरि निहोरि कहै सतदेव! दया करि नाथ जू टेर सुनौ ये।
काहे के हौ करुणानिधि जू, जब कानन दै अँगुरी तुम सोये।।

जहाँ तक, '**भारत क्रन्दन**' की बात है तो यह कविता कविता नहीं, अपनी माँ की दुर्दशा को दूर करने में विवश एक द्रवित-हृदय-पुत्र की आँख का अश्रु-बिन्दु है। 39 छन्दों की इस लम्बी कविता के कुछ चरण देखिये-

डारैं स्वदेसज पदार्थ परैं हटाय। का पाप पाय पलटी मति हाय-हाय।।
व्यापार जो सत सहायक प्रान प्यारौ। जाकौ रह्यौ परम मोहि सदा सहारौ।।
ताकी कथा अकथ आज कही न जाती। हा! हा! अभाग मम; फाटत जो न छाती।।
देशाभिमानहिं समोद पयोधि बोरी। फेर्‌यौ समेटि चित्त सेवक वृत्ति ओरी।।
खोयौ स्वजीवन; बिना कुछ नाम-काम। स्वातंत्र्य प्रेम तजि हाय! भये गुलाम।।
ना कोऊ व्यापत सब ठौर स्वदेस भाषा। यों सोचित होत जिय में अति ही निरासा।।

हम जानते हैं कि बंगाल में सन् 1763 ई. से अंग्रेजी-शोषण के विरूद्ध सुप्रसिद्ध संन्यासी-विद्रोह शुरु हुआ जो सन् 1800 ई. तक चला। इस संघर्ष की पृष्ठभूमि पर लगभग एक शती बाद बंकिम बाबू ने एक उपन्यास लिखा जो सन् 1882 में '**आनंद मठ**' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास के '**वन्देमातरम्**' गीत ने 18वीं शती के अन्तिम वर्षों और 20वीं शती के आरम्भिक दो दशकों में स्वतंत्रता प्रेमियों को मन्त्र की तरह प्रेरित किया। देश की प्राय: सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ- करोड़ों कंठों ने इसे गाया- गुनगुनाया। इस '**वन्दे मातरम्**' का ब्रजभाशा में अनुवाद तो 'कविरत्न' जी ने किया ही साथ में भारत माता की वन्दना में अनेक स्वतंत्र कविताएँ भी लिखीं।

श्री सत्यनारायण 'कविरत्न' की ऐकान्तिक मनोकामना थी कि उनका मन सदैव मातृभूमि के अनुराग से रंजित रहता आये। उन्होंने अपने मन को समझाते हुए लिखा -

करहू मन मातृभूमि अनुराग।
जगत जगत, बस तुमहीं सोवत, नैंन खोलि अब जाग।।
करनौं काज करन सौं सीखौ, कोरी गिट पिट त्याग।
निज कर रची वस्तु सेवहु नित, तजि मत्सर, मद-राग।।
हो स्वदेस भ्रातन कौ पालन; जासौं का बड़भाग।
घोरि एकता रंग परस्पर; खेलहु हिलमिल फाग।।

और सामाजिक स्तर पर उनका आग्रह था कि सब भारतवासियों को मिलकर भारत-माता की पूजा में लगना चाहिए वे लिखते हैं-

सब मिलि पूजिय भारत-माई।

चकित, भयाकुल भारत-भुवि की, नासि सकल दुचिताई।।

ब्रजभाषा काव्य में अन्य रचना-रूढ़ियों की तरह एक रूढ़ि ऋतु-वर्णन की भी रही है। 'कविरत्न' ने ब्रज-काव्य-परम्परा में पहली बार ऋतु-वर्णन को 'देश-दशा-चिन्ता' का माध्यम बनाया। रीतिकालीन कवि तो इसी बात पर मुग्ध था कि **'बनन में बागन में बगर्‌यौ बसंत है।'** किन्तु 'कविरत्न' ने बसंत आगमन पर उसकी खबर लेते हुए पूछा कि शीतकाल की-सी जड़ता कब से भारत को व्यथित किये हुए थी और तू अब इतने विलम्ब से जाने कहाँ-कहाँ मटरगश्ती मारता हुआ आया है?

भारत आरत ताकी करक करेजा करकत।

पहुँच्यौ आज बसंत! कहाँ सौं ररकत ररकत।।

इसी तरह दो पंक्तियाँ 'हेमन्त' की देखिये-

जर जर देह, दीन दुखिया जन, कँपकँपात बिलखात।

बड़े कसाई अति दुखदाई; जाड़े से इठि जात।।

'कविरत्न' की एक कविता का शीर्षक है **'प्रातः श्री'** अर्थात् प्रातःकालीन शोभा। 'जय जय जग आस रूप ऊषे प्रतिभा अनूप' से आरम्भ हुई यह कविता की कवि ने मन को अपने सौन्दर्य-पाश में अधिक देर तक बाँधकर नहीं रख सकी और वह व्यथित हृदय से पुकारा उठा-

सहृदय सन्ताप हारि भारत आरत निहारी।

ओस-अश्रु सजल युगल दृग अकासनी।।

अर्थात् कवि को लगा कि प्रातःकालीन ओस, ओस नहीं अपितु भारत की दुर्दशा पर आकाश की आँखों से बरसे अश्रुकण हैं। सत्य बात तो यह है कि जिस पुत्र की माँ घोर विपत्ति से घिरी हो, वह पुत्र कैसे उसके दुःख दूर करने की योजना बनाने के स्थान पर दूसरी बातों में मन लगा सकता है। भारत माँ का जो स्वरूप 'कविरत्न' की नजरों के सामने दृश्यमान था; वह उन्हें बेचैन कर देने के लिए आवश्यकता से अधिक था। कैसी थी उनकी भारतमाता-कवि के शब्दों में ही देखिये-

शेष अस्थि पिंजर बस केवल भय युत चकित विचारी।

रोग अकाल दुकाल सताई जीरन देह दुखारी।।

मुरझाई माधवी लता-सी जनु पाले की मारी।

अबला नाम कियौ इन साँचौ जग में सकल प्रकारी।।

'**भ्रमरदूत**' कविरत्न की ऐसी प्रबन्धात्मक रचना है कि आज अधूरी ही लब्ध है। इसमें कथा पारम्परिक है, किन्तु जिस व्यथा को अभिव्यक्ति मिली है वह नितान्त समकालीन। आचार्य शुक्ल ने '**सूर सागर**' के चुने हुए रत्नों का संचय '**भ्रमरगीत**' के नाम से किया है। गोपी-उद्धव संवाद का प्रसंग ब्रजभाषा कवियों का इतना प्रिय रहा है कि भक्तिकाल और रीतिकाल यहाँ तक कि आधुनिक काल तक भी जिस किसी ने ब्रज में कविता करने के लिए कलम उठाई उसने इस प्रसंग पर कुछ न कुछ अवश्य ही लिखा है। रत्नाकर जी का '**उद्धव शतक**' तो प्रसिद्ध है ही। 'कविरत्न' का '**भ्रमरदूत**' इस पूरी परम्परा का अंग होकर भी उनके विशिष्ट भाव-बोध के कारण अपूर्व है; अद्वितीय है।

भारत-माता की दुर्दशा दूर कैसे हो? और देश के लोगों का अधिकाधिक ध्यान इस ओर कैसे आकृष्ट हो? इस चिन्ता में जीने वाले 'कविरत्न' श्री कृष्ण के प्रति गोपियों के राग-विराग को विषय-वस्तु के रूप में ग्रहण नहीं कर सके। उन्होंने गोपियों के स्थान पर माता यशोदा की मनोदशा को अपने काव्य का आलम्बन बनाया। इसके सहारे भारतमाता की मनोदशा का करुण-चित्र इस रचना में प्रस्तुत किया। साक्षरता, नारी शिक्षा, जन्मभूमि प्रेम, नेतृत्वहीनता, परम्परानुराग में न्यूनता, वन-सम्पदा का विनाश, विदेश जाने और वहाँ बसने का नवयुवकों में चाव जैसे तमाम सामयिक संकटों की ओर उन्होंने प्रभावी ढंग से ऊंगली उठायी है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये तमाम विषय किसी एक प्रदेश या एक भाषाभाषी समूह के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है। अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए भी मूल्यवान हैं।

यशोदा भ्रमर को दूत बनाकर श्रीकृष्ण के पास अपना संदेश पाती में लिखकर भेजना चाहती है, किन्तु यहाँ अशिक्षा आड़े आ जाती है- यशोदा सोचती है- '**मात-पिता बैरी भये शिक्षा दई न मोय**' और वे इस निर्णय पर पहुंचती हैं-

नारी शिक्षा निरादरत जे लोग, अनारी।

'ते स्वदेस अवनति' प्रचंड पातक अधिकारी।।

हमारी तो प्राचीन परम्परा है- '**जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी**' किन्तु 'कविरत्न' के समय के समर्थ लोग विदेशों में जाकर बस रहे थे। भारतभूमि के कल्याण की उन्हें जरा-सी भी चिन्ता नहीं थी। यशोदा ने पहले मथुरा और फिर द्वारिका जा बसे श्रीकृष्ण से अपने संदेश से पूछा -

जननी जन्मभूमि सुनियत स्वर्ग हु सौं प्यारी।

सो; तजि सबरौ मोह, साँवरे! तुमनि बिसारी।।

का तुम्हारी गति-मति भई, जो ऐसौ बरताव?

किधौं नीति बदली नयी, ताकौ पद्यौ प्रभाव?

यही नहीं; यशोदा के माध्यम से कवि ने प्रवासी लोगों की पराये देश में जो दुर्दशा होती है। उसकी भी चर्चा इन शब्दों में की है-

जो तजि मातृ भूमि सौं ममता होत प्रवासी।

तिन्हे बिदेसी तंग करत दै विपदा खासी।।

'कविरत्न ' की इन पंक्तियों को पढ़कर गत दिनों आस्ट्रेलिया में भारतीय छात्रों के साथ जो कुछ अपमानपूर्ण व्यवहार हुआ, उसका स्मरण हो उठना स्वाभाविक है।

'कविरत्न' की यशोदा ने अपने संदेश में भ्रमर से ब्रजवासियों के स्वभाव आदि में आये बदलाव का जो चित्रण किया है वह जितना आज से सौ वर्ष पूर्व 'कविरत्न' के समय का सत्य था उतना ही क्या आज के हमारे-आपके समय का सत्य नहीं है? कवि के शब्द हैं-

भये संकुचित हृदय भीरु अब ऐसे भय में।

काहू कौ बिस्वास न नीज जातीय उदय में।।

लखियत कोऊ न रीति भलि, नहिं पूरब अनुराग।

अपनी-अपनी ढापुली अपनौ-अपनौ राग।।

अलापैं जोर सौं।।

नहीं देशीय भेष-भावन की आसा कोऊ।

लखियत जो ब्रजभाषा जाति हिरानी सोऊ।।

ऐसा आखिर हुआ क्यों है? यशोदा का मत है कि इन ब्रजवासियों का (और कवि का मन्तव्य है कि भारतवासियों का भी) कोई अगुवा नेतृत्व देने वाला नहीं है। श्रीकृष्ण पहले तुम यहाँ थे, तब सब ठीक चल रहा था। तुम्हारे चले जाने से इन लोगों की संभाल करने वाला कोई भी नहीं बचा-

वा बिनु को ग्वालन कौं हित की बात सुझावै।

अरु स्वतंत्रता, समता, सह भ्रातृता सिखावै।

जदपि सकल विधि सहत ये दारुन अत्याचार।

पै न कछू मुख सौं कहत, कोरे बने गँवार।

कोऊ अगुआ नहीं।।

यशोदा उन्हें याद दिलाती हैं - श्री कृष्ण -

पहिले कौ सौ अब न तिहारौ ये वृन्दावन।
याके चारौ ओर भये बहु विधि परिवर्तन।
बने खेत चौरस नये, काटि सघन बन पुंज।
देखन कौं बस रहि गये, निधुबन सेवाकुंज।
कहाँ चरिहैं गऊ।।

'कविरत्न' के समय में अंग्रेजों ने अपने लाभ के लिए, कच्चे माल के लिए देश के वन-प्रान्तरों का विनाश किया, यशोदा की पीड़ा थी कि जब वन ही न होंगे तो गौओं का पालन कैसे होगा? लोगों ने खेत बनाकर उनमें जीवन का साधन पैदा किया किन्तु आज हम उससे भी अधिक भीषण समय के साक्षी बने हैं- जब खेतों का विनाश कर बस्तियों का अनाप-शनाप विस्तार हो रहा है, एक्सप्रैस-वे बन रहे हैं, देशवासियों का जीवन कैसे चलेगा? जब इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो ये पंक्ति आज के समय का दर्द सुनाती प्रतीत होती हैं।

ब्रजभाषा के इस कवि-रत्न की खड़ी बोली की जो एक-दो रचनाएं मिलती हैं- उनको बानगी रूप में उद्धृत करना यहाँ समीचीन होगा- अपनी 'पति-पत्नी संवाद' शीर्षक कविता में कवि ने दोनों का साझा संकल्प इन शब्दों में व्यक्त किया है-

यहीं रहेंगे, निज स्वत्वों के लिए करेंगे युद्ध।
चाहे प्राण रहें या जायें, सोचेंगे न विरुद्ध।।

इसी तरह एक अन्य कविता 'करुणा क्रन्दन' में कवि कहता है-

ऐरे-गैरे पचकल्यानी - चले हिन्द में आते।
हम आरत भारतवासी-कहिं पैर न रखने पाते।।

इस दुर्दशा के विरोध में कवि दृढ़ स्वर में आगे की कार्य-नीति की घोषणा कुछ इस तरह करता है-

दैव सहाय उसे देता है जो निज करै सहाय।
इसमें रख विश्वास हमें भी, करना उचित उपाय।।
तकते हुए पराये मुख को अब तक बहु दुख भोगा।
अबसे मारग स्वयं आप ही अपना रचना होगा।।

स्पष्ट है कि 'कविरत्न' के आत्मविश्वास के सामने परिस्थितियों की विषमता कुछ विशेष अर्थ नहीं रखती, क्योंकि उनकी श्रद्धा के केन्द्र और प्रेरणा के स्रोत हैं-

स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक, लाला लालपतराय, गोपालकृष्ण गोखले और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महापुरुष! 'कविरत्न' ने रामतीर्थ के लिए लिखा- **'रामतीर्थ भारतमय, भारत रामतीर्थमय'** गाँधीजी को **'देशभक्ति का आदर्श' कहा, 'जय जय कविकुल तिलक भारती देवि उपासक'** के रूप में रवीन्द्र की प्रतिभा का अभिनन्दन किया, **'भारत जग-जीवन जहात हित ध्रुव कौ तारौ'** कहकर गोखले जी की भारतभक्ति को नमन किया और श्री लोकमान्य तिलक के प्रति अपनी श्रद्धा इन शब्दों में निवेदित की-

कर्मयोग आचार्य्य आर्य आदर्श उजागर।
निर्मल न्याय निकुंज पुंज करूणा के सागर।।
सुदृढ़ सिंहगढ़ के सजीव-ध्वज धर्म धुरंधर।
अद्‌भुत अनुकरणीय प्रेम के प्रकृत पुरंदर।।
प्राणोपम राष्ट्र प्रतापवर, अघ त्रितापहर सुरसरी।
जय जनसत्ता के छत्रपति, महाराष्ट्र कुल-केसरी।।

'कविरत्न' की प्रतिभा ने ब्रजभाषा को उसके पारम्परिक रूप में ग्रहण किया। उन्होंने ब्रजभाषा के जिस रूप का व्यवहार अपने काव्य में किया उसने लोकजीवन के मुहावरे और प्रचलित शब्दावली की प्रचुरता है। इस प्रकार उनकी भाषा में एक खास तरह की ताजगी, एक खास तरह की जीवन्तता दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए पाठक के हृदय को रागोद्दीप्त बना देने की उसकी क्षमता अद्‌भुत है। उनके नवीन भाव-बोध और इस जीवन्त ब्रजभाषा के कारण ही उनकी गणना आधुनिक काल के ब्रजभाषा कवियों की **बृहत्त्रयी** में सादर की जाती है। इस बृहत्त्रयी के अन्य दो कवि हैं, श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'। इत्यलम्।

संदर्भ ग्रन्थ : सत्यनारायण ग्रन्थावली, संपादक: डॉ. विद्यानिवास मिश्र

टिप्पणी : * वेदव्यास के उद्धत श्लोक का अर्थ इस प्रकार है - स्वर्ग में कल्पभर की आयु भोगने से भारतवर्ष में क्षणभर की आयु पर्यन्त रहना अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि आयु पूर्ण होने पर स्वर्गवासी पुनः जन्म-मरण के चक्र में लौट आते हैं। किन्तु भारतवर्ष के निवासी अपनी क्षणिक आयु में अपने सम्पूर्ण कर्म श्रीहरि को अर्पित कर जन्म-मरण के चक्र से परे परम-पद को प्राप्त कर लेते हैं।

श्री निकुंज, बी. 90, जवाहर नगर, भरतपुर,
हिन्दी विभाग, महारानी श्री जया महाविद्यालय, भरतपुर

शोध

जाति प्रथा के विरुद्ध पहला स्वर : बौद्ध धर्म

डॉ. राम भरोसे

विश्व इतिहास में छठी शताब्दी (ई.पू.) धर्म सुधार और मानव धर्म की स्थापना का काल था। यह समय भारतीय इतिहास और संस्कृति हेतु अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। इसी समय में भारत में 'जैन' और 'बौद्ध' जैसे दो ऐसे मानवतावादी धर्मों का उदय हुआ जिसने न केवल धर्म, बल्कि पारम्परिक समाजों की भी जड़ें हिला कर रख दी। पहली बार यज्ञ-हिंसा के विरुद्ध अहिंसा और धार्मिक, सामाजिक दृष्टि से मानवीय समानता का सिद्धान्त भारतीय धर्म और दर्शन में लागू हुआ। महात्मा बुद्ध ने न केवल पंडितवाद (पुरोहितवाद) और यज्ञ-हिंसा का विरोध किया, अपितु जाति-प्रथा को भी पहले सिरे से नकार दिया। इस सन्दर्भ में रामधारीसिंह दिनकर लिखते हैं कि "**जाति प्रथा को चुनौती देकर बुद्ध ने इस देश में एक महान आन्दोलन का आरम्भ किया, जो प्रायः गांधी और अम्बेडकर तक चलता आया है और आज भी चल रहा है। उन्होंने मनुष्य की मर्यादा को यह कहकर ऊपर उठाया कि कोई मनुष्य केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से पूज्य नहीं हो जाता, न कोई शूद्र होने से पतित होता है। उच्चता और नीचता जन्म पर नहीं, कर्म पर अवलम्बित है।**[1] इसलिए पवित्रता जाति पर निर्भर न होकर कर्म से आधारित होती है। ब्राह्मण भी पतित हो सकता है और शूद्र भी अपने को पूजा योग्य बना सकता है। इसी प्रकार वेदों ने यज्ञ का अधिकार केवल द्विजों को दिया और जब उपनिषद् बढ़े, तब ब्राह्मणों ने उसे भी ब्रह्म-विद्या का नाम देकर शूद्रों और स्त्रियों की पहुंच से बाहर कर दिया। जबकि इसके विपरीत, बौद्ध धर्म में चारों वर्णों और स्त्रियों को समान रूप से धर्म का अधिकार दिया गया। यह ब्राह्मण धर्म के खिलाफ सबसे बड़ी बगावत थी और बौद्धों का ब्राह्मणों ने जो भी विरोध किया, वह मुख्यतः उनके इसी विद्रोह के कारण था।

"न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मना वसलो होति, कम्मना होति ब्राह्मणो।।[2]"

जिसका अर्थ साफ है कि जन्म से न कोई शूद्र होता है, न जन्म से कोई ब्राह्मण। कर्म के आधार पर ही कोई शूद्र या कोई ब्राह्मण होता है। यह चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं जैसे जन्मना और ईश्वरीय विधान के ठीक विपरीत था। वैदिक (हिन्दू) धर्म के कर्मकाण्ड, अंधविश्वास और हिंसा का घोर विरोध करते हुए महात्मा बुद्ध ने वेदादि को झूठी विद्या कहा। उन्होंने "**धर्म को दोमुहा साँप बताया था**"[3] और अपने 'धर्म' को धर्म नहीं सिद्धान्त कहा था। बौद्ध धर्म तर्क पर आधारित है। "**बौद्ध-ग्रन्थ 'विनय पिटक' में अनेक स्थानों पर वर्णन मिलता है कि बुद्ध अपने भिक्षुओं को कहा करते थे कि किसी बात को केवल इसलिए नहीं मानो कि यह धर्मग्रन्थों में लिखी है, परम्परा से चली आ रही है या फिर मैं (बुद्ध) ही कह रहा हूँ। पहले उसे अपनी तर्क की कसौटी पर कसो, यदि वह सत्य की कसौटी पर खरी उतरती है, तभी उसे मानो, अन्यथा नहीं। बुद्ध की इस छोटी सी उक्ति ने वर्ण-व्यवस्था और अन्य ईश्वरीय कहे जाने वाले विधानों के खिलाफ बहुत बड़ा काम किया।**"[4] महात्मा बुद्ध के ऐसे उपदेशों से लोगों पर यह प्रभाव पड़ा कि वे ईश्वर और वर्ण-व्यवस्था पर आधारित बातों पर शंका करने लगे। इस तरह की उक्तियों ने वैदिक धर्म और परम्परा सहित ईश्वर की सत्ता को भी कठिन चुनौती दे डाली।

महात्मा बुद्ध के मन, वचन और कर्म में एकरुपता थी। साथ ही वह अपनी बातों पर पहले स्वयं चलते थे। इसलिए उन्हें 'तथागत' भी कहते हैं। वर्ण-व्यवस्था के विरोध और समानता के सिद्धान्त को महात्मा बुद्ध ने सबसे पहले अपने भिक्षु-संघ में ही लागू किया। उन्होंने सुनीत और प्रकृति आदि अनेक दलित भिक्षु-भिक्षुणियों को अपने संघ में शामिल किया। उन्होंने अपने भिक्षुओं को सख्त निर्देश दिये थे कि वे हर जाति और वर्ण के लोगों के यहाँ से भिक्षा ग्रहण करें और साथ ही अपने संघ में किसी से भी किसी भी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं किया जाए। भिक्षाटन में वर्ण के आधार पर भेदभाव न करने का भिक्षु-संघ में नियमबद्ध निर्देश था। गाँव में हर जाति के घर से भिक्षा ग्रहण करना अनिवार्य था। 'अगुंत्तर निकाय' में एक स्थान पर महात्मा बुद्ध अपने भिक्षुओं से स्पष्ट कहते हैं कि "**जिस तरह गंगा, यमुना, माही आदि नदियाँ समुद्र में मिलते ही अपने नाम और अस्तित्व खो बैठती हैं, वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र बौद्ध धर्म संघ में आते ही अपने जाति, वर्ग, गोत्र, आदि सदा के लिए खो बैठते हैं।**"[5]

बौद्ध धर्म के ग्रंथ 'त्रिपिटक' में स्थान-स्थान पर बुद्ध द्वारा जाति और वर्ण व्यवस्था के विरोध का संकेत मिलता है। इनके "'**मज्झिम निकाय' के 'घोटमुख-सुत्त', 'आश्वलायन सुत्त', 'माधुरिय सुत्त', 'एसुकारि सुत्त' तथा 'बासेट्ठ सुत्त' आदि अध्यायों के उद्धरणों से बुद्ध के वर्ण-व्यवस्था संबंधी अनेक शास्त्रार्थ और**

विरोधों का पता चलता है।''[6] कुछ ऐसी भी घटनाएं हुई हैं कि अनेक विद्वान ब्राह्मण जो बुद्ध के जाति विरोध से क्रुद्ध होकर उनको भला-बुरा कहने जाते हैं, बाद में उनके शास्त्रार्थ और तर्कों से परास्त होकर बौद्ध धर्म धारण कर लेते थे। इस सन्दर्भ में 'आश्वलायन सुत्त' में शास्त्रार्थ का रोचक वर्णन मिलता है- **''सोलह वर्षीय अश्वलायन विभिन्न प्रदेशों के पांच सौ ब्राह्मणों के साथ अनाथपिंडक द्वारा निर्मित जेतवन विहार में बुद्ध के समक्ष प्रस्तुत होकर बोले, 'भो गौतम! ब्राह्मण यों कहते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ हैं, अन्य वर्णहीन हैं, ब्राह्मण का वर्ण गौरा है, अन्यों का वर्ण काला है। . . . . . . ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरस (वैध) पुत्र हैं, वे ही ब्रह्मा के दायाद (असली उत्तराधिकारी) है। इस पर बुद्ध ने कहा 'लेकिन अश्वलायन, ब्राह्मण की ब्राह्मणियाँ भी ऋतुमति और गर्भवती होतीं, बच्चे पैदा करती और उन्हें दूध पिलाती देखी जा सकती हैं। फिर वे ब्रह्मा के औरस पुत्र कैसे हुए?''** तथागत तो यह उत्तर सुनकर अश्वलायन निरुत्तर हो गया और भिक्षु संघ में शामिल हो गया। ऐसे और भी असंख्य उदाहरण हैं।

असल में बौद्ध धर्म के विचारों के केन्द्र में मानव और मानवता है। आदि से अंत तक वह केवल मनुष्य और उसके पर्यावरण के संबंध में चिन्ता और चिन्तन करता है। यह कहना कोई अतिश्योक्ति न होगी कि बौद्ध धर्म के प्रमुख आचार तत्व स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व, भारतीय राष्ट्र और आधुनिक जनतंत्रों के भी राष्ट्रीय मूल्य हैं। सैकड़ों वर्ष पूर्व ही महात्मा बुद्ध ने अपेन भिक्षु-संघ में जो नियम निर्धारित किये थे, उसका मिलान आज की स्थिति से करने पर वह किसी भी लोकतांत्रिक देश के राष्ट्रवादी मूल्यों का समकक्षी सिद्ध हो रहा है। भिक्षु संघ के सदस्य विभिन्न जाति, वर्ण, लिंग, कुल, गोत्र और प्रदेश से संबंध रखते थे। महात्मा बुद्ध की धर्मनिरपेक्षता का पता 'श्रमणिज्झम' में वर्णित एक घटना से लग जाता है इसके अनुसार महात्मा बुद्ध की शिक्षा और उपदेशों से प्रेरित होकर एक बार कुछ जैनी बुद्ध की शरण में आये। महात्मा बुद्ध ने उनको विधिवत् बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। किन्तु उनसे कहा कि **''आपका घर जैनियों के लिए प्याऊ की तरह रहा है। बौद्ध धर्म में दीक्षित होने पर भी उनका पूर्ववत् सत्कार करें।''**[8]

इस प्रकार बौद्ध धर्म ने जाति-प्रथा/वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध पहला शंखनाद किया और उसे सफलता भी प्राप्त हुई। उसके मानवतावादी दृष्टिकोण तथा प्रेम, भाईचारा और समानता की शिक्षा से प्रभावित होकर महान् मौर्य सम्राट अशोक ने न केवल बौद्ध धर्म धारण किया, अपितु उसे सात द्वीप नौ खंडों में प्रचारित-प्रसारित भी कराया। अपने सम्पूर्ण कुल को इस महान् धर्म की सेवा में समर्पित कर दिया। **''उसके बाद बौद्ध धर्म**

प्राय: घोषित रूप में राजधर्म बन गया। मौर्य सम्राटों बिम्बिसार, अजातशत्रु आदि के बाद महान् कुषाण सम्राट कनिष्क ने इसे देश-विदेश में फैलाया। किन्तु ब्राह्मण-श्रमण विवाद, शुंगों की गद्दारी, ब्राह्मणों के षड्यंत्र आदि अनेक कारणों से यह महान धर्म 10वीं-11वीं शताब्दी तक आते-आते अपनी ही जन्मभूमि भारत से समूल नष्ट हो गया।''[9] विडम्बना तो यह है कि ठीक उसी समय इस धर्म को वैश्विक स्तर पर मान्यता मिलने लगी थी, जबकि अपने देश में बौद्ध धर्म पर अनेक प्रहार हुए। बुद्ध के वेद और वर्ण विरोधी विचारों के कारण उनका घोर विरोध हुआ। कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने न केवल 'मुंडक' (सिर मुड़ाने वाले शूद्र) कहकर बौद्ध भिक्षुओं का अपमान किया, बल्कि महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण के लगभग एक साल पूर्व ही उनके प्रिय शिष्य और महान बौद्ध विद्वान महा मौद्गल्यायन की हत्या कर डाली गयी। फिर बुद्ध के बाद पुष्यमित्र शुंग से लेकर अनेक सत्ता-सम्पन्न ब्राह्मणों, पुरोहितों और सामन्तों ने बौद्ध भिक्षुओं सहित उनके मठों को भी ध्वस्त कर दिया गया। भारतीय इतिहास में ब्राह्मण-श्रमण विवाद प्रसिद्ध है जिसके फलस्वरूप नालन्दा, तक्षशिला, ओदन्तपुरी आदि बौद्ध विश्वविद्यालयों को नष्ट करवा दिया गया। यही कारण है कि बौद्ध धर्म जिस देश (भारत) में जन्मा आज उसी में यह गौण होकर रह गया है।

हिन्दुओं ने पहले बौद्ध धर्म से घृणा की, फिर उसके खिलाफ विद्रोह किया और अन्तत: कोई उपाय न देखकर उसे अपने में मिलाने का पूरा प्रयास किया। परन्तु फिर भी बौद्ध धर्म ने अपना जाति-विरोध जारी रखा। महायान के आरम्भ के समय से बौद्ध धर्म हिन्दुत्व के करीब आता दिखाई देता है, किन्तु तब भी उसने जाति भेदभाव के विरुद्ध अपने हथियार कभी नहीं डाले। यहाँ तक कि महायान जब विकृत होकर मन्त्रयान और वज्रयान बनने लगा, तब भी जातिवाद के खिलाफ उसकी लड़ाई बन्द नहीं हुई आगे चलकर निर्गुण मतावलम्बियों ने जाति-प्रथा का जो घोर विरोध किया, उसका साहस उन्हें बौद्ध धर्म से ही मिला। बल्कि आज यह सिद्ध भी हो चुका है कि संत रविदास की वाणी पर महात्मा बुद्ध का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। अत: कह सकते हैं कि महात्मा बुद्ध और उनका धर्म तो भारत से चला गया। परन्तु उनका प्रभाव नहीं गया। भारतीय साहित्य और संस्कृति ने उसे जीवित और जीवन्त रखा। उदाहरणत: संत रविदास जी का 'अष्टांग' बुद्ध धर्म के आर्ष 'अष्टांगिक मार्ग' से प्रभावित और उसी का रुपांतर प्रतीत होता है। अष्टांगिक मार्ग की सम्यक् समाधि रविदास जी की सहज समाधि ही है-

गुरु को सारि, ज्ञान का अच्छर।
बिसरै तो सहज समाधि लगाऊं।।[10]

तथागत के समान रविदास जी ने भी मनुष्य जीवन को अति दुर्लभ बतलाया है। धम्म पद

में तथागत गौतम बुद्ध ने कहा है :- **किच्छो मनुस्सपटि लाभा**।[11] और संत रविदास जी ने 'मनुषावतार दुर्लभ' कहकर मानव जीवन को अति महत्वपूर्ण बताया है। भारत में भक्ति आन्दोलन में संत कवियों की वाणी में महात्मा बुद्ध स्पष्ट रूप से सुने और समझे जा सकते हैं। यह बौद्ध धर्म का सकारात्मक विकास ही है कि वर्ण-व्यवस्था, छुआछुत, कर्मकाण्ड और अंधविश्वासों के विरुद्ध सभी संत कवियों ने समानता, प्रेम, बन्धुत्व और शान्ति का क्रांतिकारी नारा बुलन्द किया। यहाँ यह कहना कोई अतिशयोक्ति न होगी कि **अगर बुद्ध नहीं होते तो शायद इस देश में कबीरदास, रविदास, दादू, नानक, हरिदास, निरंजनी आदि में से कोई भी संत नहीं हुआ होता। जाति-प्रथा को शिथिल करके एवं वर्णाश्रम-धर्म को चुनौती देकर बुद्ध और उनकी परम्परा के अन्य साधुओं ने ही भारत में वह व्यवस्था उत्पन्न की, जिसमें निर्गुनिया सन्तों का मत फल-फूल सका।**[12]

इसी प्रकार कबीरदास के साहित्य में दुख की अवधारण एवं जाति-विरोध में सीधे-सीधे महात्मा बुद्ध दिखाई देते हैं। यहाँ तक कि उनके कई नैतिक और शिक्षाप्रद दोहे बुद्ध के विचारों का अनुवाद है। उदाहरण के लिए कबीरदास जी विश्व प्रसिद्ध दोहा - 'काल करै सो आज कर, आज करै सौ अब' देखे तो **''बुद्ध ने ऐसी शिक्षा 'मज्झिम निकाय' के 'भद्देकरत्त सुत्त' में इस प्रकार की थी - 'आज ही काम में जुड़ जाना चाहिए, कौन जानता है कल मरण हो जाये! मृत्यु का कोई समय निश्चित नहीं है।''**[13]

वर्तमान समय में दलित एकता की सबसे ज्यादा आवश्यकता महसूस की जा रही है। दलित समाज 6000 से अधिक जातियों में बँटा हुआ है। उनमें आपस में ऊँच-नीच और भेदभाव की भावना व्याप्त है, आपस में रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं है। महात्मा बुद्ध द्वारा बताये गये मार्ग पर चलकर एकता आएगी। तथागत बुद्ध की शिक्षा है कि जैसे अलग-अलग दिशा से आयी हुई नदियाँ समुद्र में मिलने पर अपना प्रथम अस्तित्व होकर समुद्र का अंग बन जाती हैं, वैसे ही तथागत के संघ में आने पर साधक अपनी पुरानी पहचान खोकर संघ का अंग बन जाते हैं। दलित समाज के अधिकतर लोग हीन भावना का शिकार हैं। सदियों के जातीय शोषण ने उनके आत्मविश्वास को नष्ट कर दिया था, मगर बौद्ध धर्म ने न केवल दलितों में आत्मविश्वास का संचार किया अपितु उनके जीवन को ज्वलित करते हुए, उनके प्रगति का मार्ग भी प्रशस्त किया। अत: बौद्ध धर्म भारत में जाति प्रथा के खिलाफ पहली ऐतिहासिक क्रांति थी, जिसका प्रभाव आज सबसे अधिक है। दलित साहित्य के सन्दर्भ में संक्षिप्त बात करें तो वर्तमान साहित्य जगत में यह साहित्यिक क्रांति का स्वरूप बन चुका है और दलित साहित्य में जो चेतना/जागरुकता/जातिगत भेदभाव के प्रति विद्रोही स्वर हमें दिखायी पड़ता है उसके पीछे बौद्ध धर्म का

ही आदर्श उपस्थित है। बाबा साहेब, अन्य विद्वानों और दलितों में बौद्ध धर्म के प्रति जो ऐसी श्रद्धा और प्रवृति दिखायी पड़ती है, वह अनायास नहीं है। उसका कारण यही जातिगत भेदभाव और मानवीय समानता का भाव है। साथ ही दलित साहित्य के सन्दर्भ में भी यही बात सामने आती है।

सन्दर्भ सूची

1. संस्कृति के चार अध्याय: दिनकर, रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 198
2. विनय पिटक, सं. राहुल सांकृत्यायन।
3. दलित साहित्य का समाजशास्त्र से उद्धृत, ले, डॉ. हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 184
4. हंस, अगस्त, 2004, बौद्ध धर्म तथा वर्ण व्यवस्था, ले, डॉ. तुलसीराम, पृ.-58
5. वही, पृ. 58
6. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, डॉ. हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 185
7. विनय पिटक: अंगुत्तर निकाय, सं.-राहुल सांकृत्यायन।
8. बौद्ध धर्म और राष्ट्रवाद: डॉ. एन.जे. वाघमरे, दलित साहित्य वार्षिकी 2005, पृ.-235
9. दलित साहित्य का समाजशास्त्र डॉ. हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृ.-187
10. बौद्ध धर्म और संत रविदास, जे.आर. हरनोदिया, नवभारत प्रकाशन, दिल्ली, पृ.-199
11. वही, पृ.-78
12. संस्कृति के चार अध्याय: दिनकर, रामधारी सिंह दिनकर लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.-199
13. हंस, अगस्त, 2004, बौद्ध धर्म तथा वर्ण व्यवस्था, ले. डॉ. तुलसीराम, पृ.-63

बी.एस.एम.पी. कॉलेज

रुड़की

हरिद्वार (उ.प्र.)

"सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रश्नः राजस्थान के सन्दर्भ में"

डॉ. आईदान सिंह भाटी

['अक्सर' के पिछले अंक में राजाराम भादू ने राजस्थान के संदर्भ में सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रश्न व्यापक दृष्टि से विचार किया था। उनके आलेख पर प्रतिक्रिया देते हुए अईदान सिंह भाटी ने इसी प्रश्न पर अपनी दृष्टि से विचार रखे हैं। हम इस प्रश्न पर भी आगे बहस का स्वागत करेंगे। सुधी चिंतक अपने विचार हमें भेजें। सम्पादक]

'अक्सर' के स्तम्भ 'दृष्टि' में भाई राजाराम भादू ने सार्थक और संवेदनशील सवाल उठाए हैं और स्वतंत्रता पश्चात् के राजस्थान के संदर्भ में उसका विवेचन विश्लेषण करने का प्रयास किया है किन्तु भारत में सांस्कृतिक पुनर्जागरण और नवजागरण की अवधारणा सर्व प्रथम स्वातंत्र्य पूर्व बंगाल में प्रवर्तित हुई ऐसा मानकर वे भी यूरोपीय औपनिवेशिक मानसिकता के शिकार हो गए हैं। शिक्षित मध्यवर्गीय भद्रलोक द्वारा आधुनिकता की चेतना का विकास तो होता है। किन्तु आधुनिकता की परिभाषा सांस्कृतिक पुनर्जागरण से कितना मेल खाती है यह भी विचारणीय है। मैं मानता हूँ कि ज्ञान जहाँ कहीं से भी उपलब्ध हो लेना ही चाहिए लेकिन ज्ञान की कसौटी तर्क और विवेक भी सदैव साथ रखने चाहिए।

राजस्थान के संदर्भ में जब भी संस्कृति की बात होती है तो नजरें पुरातत्व और पयर्टन पर जाकर ठहर जाती है और आम आदमी के साथ विवेकशील विचारवान भी उसमें फंस जाता है। साहित्य, संगीत, नाटक नृत्य, चित्र, स्थापत्य जिनको बौद्धिक संस्कृति में विमर्श की वस्तु मानते हैं, राजस्थान में लगभग मौखिक रूप में श्रुति परम्परा में था, जिनके संकलन, प्रकाशन, प्रसारण से महत्त्वपूर्ण कार्य हो सकता था, जिनका उल्लेख वे 'बातां री फुलवाड़ी' और विजयदान देथा के संदर्भ में करते हैं, पर मूल बात को गोल कर जाते हैं और वह है संस्कृति में भाषा का प्रश्न क्योंकि राजस्थान में लोककथा, लोकगीत, लोक नृत्यों के गीत, संगीत और चित्रों स्थापत्य आदि बातें

राजस्थानी भाषा में सदियों से प्रवहमान संस्कृति का हिस्सा रही हैं जो लोक-संस्कृति की सबल धारा है। मैं यहाँ जड़ लोक की बात नहीं कर रहा हूँ। जिसमें रूढ़ियाँ, दुराग्रह और अंध लोकवादी बातें हैं। मैंने राजस्थान के साक्षरता आन्दोलन के समय रचित प्राईमर्स में इन संदर्भों के संकेत दिए थे, जिसे राजाराम भादू के साथ ही मेरे समकालीन साथी मित्र जानते हैं। राजस्थान के सामंती-परिवेश में लोकजीवन की सबलताएं किसी की भी परवाह नहीं करती और वे लोक-मुहावरों के साथ जड़ और जब्दी मनोवृत्ति के साथ चोट भी करती थी। क्योंकि यहाँ इन बातों के विश्लेषण के अवसर नहीं हैं। फिर भी यथा-प्रसंग में इन बातों का उल्लेख भी करूंगा। यहाँ मैं राजाराम भादू द्वारा राजस्थान के सम्बन्ध में उल्लेखित पैरेग्राफ पाठकों के सामने रखना चाहता हूँ जो राजस्थान में संस्कृति अथवा पुर्नजागरण की धुरी है। उसकी व्याख्या करता है।

"राजस्थान भी एक हिन्दी भाषी प्रदेश है और देश की आजादी से पूर्व यह विशाल उत्तर भारतीय हिन्दी क्षेत्र से सम्बद्ध रहा है। इस विशाल क्षेत्र में अनेक बोलियां और लोक संस्कृति के विविध रूप प्रचलन में रहे हैं। राजस्थान के रूप में अस्तित्त्व में आने से पूर्व इस क्षेत्र का अन्यत्र से साम्य और विभेद रहा है, सम्पर्क और संवाद रहा है। आजादी के बाद यहाँ घटित व्यापक संक्रमण को पड़ौसी प्रदेशों की तुलना में देखा जाता रहा है। निश्चित ही राज्य की अनेक अपनी विशिष्टताएं हैं। . .. . "

इस पैरेग्राफ में राजस्थान को हिन्दी भाषी प्रदेश कहना और साथ ही अनेक बोलियों व लोक संस्कृति के विविध रूपों की बात ही वह कुंजी है जो उन्हें राजस्थान में पुनर्जागरण के प्रश्न तक नहीं पहुंचने देती है। यद्यपि वे दबी जुबान से कहते भी हैं कि 'निश्चित ही राज्य की अनेक अपनी विशिष्टताएं हैं। . . .. . .' इन्हीं विशिष्टताओं में राजस्थान में सांस्कृतिक पुनर्जागरण के बिम्ब छिपे हैं और वे बिम्ब बिना राजस्थानी की जानकारी और उसकी बोलियों की समझ के नहीं जाने जा सकते हैं। वे तमिल, तेलगू, मराठी, बंगाली जैसी उपराष्ट्रीयता की तो बात करते हैं, पर 'राजस्थानी' जैसे शब्द से कतराते हैं, क्योंकि इससे उनके हिन्दी भाषी होने के स्थापित किये गये प्रयत्न की कलई खुलती है। पूरे सम्मान के साथ यह बात मैं रामविलास जी के सम्बन्ध में भी कहना चाहता हूँ कि हिन्दी जातीयता जैसी बात न तब थी और न अब है। आज भी आंचलिकताओं के लिए खड़े होने वाले आन्दोलन इसकी गवाही देते हैं। हालांकि उन्होंने खुद इस थीसिस को विवादास्पद घोषित कर दिया है।

राजाराम भादू बात तो राजस्थान में पुनर्जागरण की करना चाहते हैं, किन्तु वे अवधारणात्मक चर्चा में संस्कृति को समझाते हैं। पुनर्जागरण की चर्चा में संस्कृति ही केन्द्र में होती है और इसे बिना जाने समझे एक कदम भी नहीं बढ़ा जा सकता है। पूर्व

इतिहास, स्मृतियाँ, स्वातंत्र्य संघर्ष इसके प्रस्थान बिन्दु होते हैं। उसके साथ ही आर्थिक, सामाजिक कारक भी इसके लपेटे में आते हैं। उन्होंने आदिवासी विमर्श स्त्री अस्मिता और अल्पसंख्यक प्रश्नों तक को उभारा है। यही इस पुनर्जागरण और पुनरूत्थानवाद की कड़ियाँ आपस में टकराती हैं। वामपंथी विचारकों की कठिनाई यह है कि वे आंचलिकताओं को बिना समझे --- विश्व-नागरिक बनाने पर तुल जाते हैं और अपने चौखटे में फिट करने की कोशिश करते हैं। लोक संस्कृति के सबल पक्षों में स्थानीय आँचलिकता होती है। संस्कृति जैसे शब्द उन्होंने साम्प्रदायिकों के हवाले कर दिए हैं। तीन दशक पहले मैंने जनवादी-लेखक संघ के साथियों से इन आंचलिक सबलताओं को उभारने का आग्रह किया था, पर उस वक्त तो नहीं, हाँ कुछ बरसों पहले एक साथी ने इस पर सहमति जताई थी!

श्री भादू जिस सांस्कृतिक पूंजी की बात करते हैं उनके लिए राजस्थानी भाषा तक जाना पड़ता है और वहाँ तक वे जाना नहीं चाहते क्योंकि इससे उनकी राजस्थान की हिन्दी भाषी होने की तथा कथित थीसिस फेल होती है। प्रतिरोध की संस्कृति के ऐतिहासिक बिम्ब उन्हें सामंती लगेंगे, अब कि वे सब तत्कालीन जन-प्रतिरोध में थे हाँ नेतृत्व में अगर कोई ठाकुर सामंत हो तो उसे नकारा नहीं जा सकता। मैं राजस्थान के स्वातंत्र्य संघर्ष के कुछ उदाहरणों से इसे पुष्ट करना चाहूँगा। क्योंकि राजस्थान में आधुनिक शिक्षा नहीं थी, इसलिए जनभाषा राजस्थानी में ही पुनर्जागरण के ये बिम्ब उद्घाटित हुए हैं। इन बिम्बों में आदिवासी और दलितों के संघर्ष की वाणी भी हैं। हाँ आज की स्त्री अस्मिता अथवा आज के राजनीतिक अल्पसंख्यकों के प्रश्न उस समय नहीं उभरे थे किन्तु उनकी 'चिणखें' वहाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

'गोरा हट जा' राजस्थानी लोकगीत में भरतपुर के अंग्रेजों से हुए संघर्ष का बखान है, जो राजस्थानी समाज व आमजन के मन की बात है-

गोरा हट जा!
राज भरतपुर को रे गोरा हट जा।
भरतपुर गढ़ बंको रे गोरा हट जा।
यूं मत जांणै गोरा लड़ै बेटो जाट को।
ओ तो कुंवर लड़ै रे राजा दशरथ को गोरा हट जा।

यह लोक गीत और तत्कालीन समय के अन्य गीत भी राजस्थान में बदलते जीवन की करवटों, प्रतिरोधों और नवजागरण के संकेत सूत्र हैं। एक लोकगीत तो पुनर्जागरण का प्रत्यक्ष रूप है जिसमें राष्ट्रीयता भरी हुई है। पुनर्जागरण के प्रस्थान बिन्दु का यह लोकगीत माना जा सकता है-

'देस में अंगरेज आयो, कांई कांई चीजां लायोरे फूट डाली भायां में बेगार लायेरे।

काली टोपी रो।

हाँ रे काली टोपी रो अंगरेज

देस में छावणियां नांखै रे,

काली टोपी रो।'

(देश में अंग्रेज आया है अपने साथ क्या क्या चीजें लेकर आया है। यह तो बेगार लेकर आया है और इसने भाईयों में फूट डाल दी है। काली टोपी वाला यह अंग्रेज देश में छावनियाँ स्थापित कर रहा है।)

इसी तरह एक लोक गीत में जोधपुर के राजा मानसिंह द्वारा सांभर झील अंग्रेजों के अधिकार में देने का मार्मिक चित्रण है–

'म्हारौ राजा भोलौ, सांभर तौ

दे दीनी रे अंगरेज ने, म्हारौ राजा भोलौ।

(हमारा राजा भोला है, सांभर अंगरेज को दे दी है। हमारे बच्चे तीखे 'लूण' की रोटी को तरस रहे हैं।

यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि गाँधी ने जिस नमक सत्याग्रह की बात की और उसे परवान चढ़ाकर राष्ट्रीय आन्दोलन बनाया उसके संकेत सूत्र इस लोकगीत में हैं। अंग्रेजों का प्रतिरोध हिन्दू–मुसलमानों ने एक होकर किया था, यह सुदूर पश्चिमी राजस्थान के चौहटन ठिकाने के ठाकुर और उनके मुसलमान साथियों के संघर्ष के रूप में आज भी याद किया जाता है। उल्लेखनीय है कि जोधपुर के राजा ने अंग्रेजों से समझौता कर लिया था पर आम आदमी ने नहीं –

'हटवादी जद नाहर होफरिया

सादी जिसड़ा साथ सिपाह।

मेर मंडी जद बाहड़ मेरे,

गोरां सूं रचियौ गजगाह।।

(हठपूर्वक जब नाहर श्यामसिंह अपने साथियों जिसमें सादी जैसे सिपाही थे, गोरों से संघर्ष किया वह दृश्य अनुपम था। उल्लेखनीय है कि 'सादी' की चौहटन (बाड़मेर) में समाधि है जिसकी पूजा होती है।)

सूर्यमल्ल मिश्रण के ये दोहा तो सभी जानते हैं जिसमें उन्होंने समय के पलटने के संकेत दिये थे।

जिन बन भूल न जावता, गेंद गवय गिड़राज।

तिण बन जंबुक ताखड़ा, ऊधम मंडै आज।।

(राजस्थान रूपी जिस जंगल में गेंडे, हाथी और शूकर, सिंहों के भय से भूल कर भी नहीं जाते थे आज इस जंगल में अंग्रेज रूपी लोमड़ियां और सियार उत्पात मचा रहे हैं।

बीकम बरसां बीतियों, गण सौ चंद गुणीस।

बिसहर तिथ गुरु जेठ बदि, समय पलट्टै सीस।।

'समय का शीश पलटना' 1857 की क्रांति का ही संकेत है। इन्हीं सूर्यमल्ल ने अपने पत्रों में स्वातंत्र्य चेतना की अलग जगाई थी, जो पुनर्जागरण का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। आलनियावास का जमादार मीरू खाँ वीर की तरह लड़कर मरा, उसे कविता में कवियों ने इस तरह गाया है-

जमादार जमीयत रो, मीरू खां मरदांण।

मर्‌यौ मरद री मौत यो, गोरा रौ कर धांण।।

इसी तरह शंकरदान सामोर ने जनता की अंग्रेजों के साथ टकराहटों में दलितों की भागीदारी का उल्लेख किया है -

फॉरेस्टर फीको पड्यौ, सिर न देख्यौ सुंवार।

सिर लायो सावंत रौ, मीणी जायौ नार।।

(फॉरेस्टर ने अपमानित करने के लिए जिस शीश को छावनी के दरवाजे पर लटका दिया था उसे मीणी नारी से जन्मा मीना नवयुवक उतार कर ले आया और अंग्रेज फीके पड़ गये।) इसी तरह के अनेक उदाहरण हैं जो पुनर्जागरण के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष स्वातंत्र्य चेतना की पुष्टि करते हैं। साथ ही इन गीतों, कविताओं और डिंगल छंदों में ऐसे पुष्ट-प्रमाण हैं जो सामंती मूल्यों के नकार और नवीन जीवन मूल्यों और परितवर्तनों की पक्षधरता करते हैं-

'आयौ औसर आज, प्रजा पख पूरण पालण।

आयौ औसर आज, गरब गौरां रौ गालण।।

(आज अवसर आया है, प्रजा के पक्ष का पालन करें और गोरों का गर्व गलाएं।)

इसी तरह डिंगल गीतों, कविताओं में कवियों ने किसानों की कर्मठता और श्रम के बखान किये हैं। ये बखान उस सामंती सोच के बीच पुनर्जागरण के ही संकेत थे। बांकीदास आशिया और ऊमरदान जैसे कवियों ने इन मूल्यों को वाणी दी है-

'इन मरूधर रै, मांयनै, करसा एक कमावणा।' (इस मरुधरा के बीच मेहनत करके कमाने वाले केवल किसान हैं।) ध्यातव्य है कि महर्षि दयानन्द के प्रभाव से राजस्थान के सामंती समाज में बदलाव आया था और उन्होंने शिक्षा और समाज सुधार की अलख जगाई थी जिससे पुनरूत्थानवादी नाराज हुए थे और जोधपुर के सर प्रताप को निंदित किया था-

'दाढ़ी मूंछ कटाय नै, सर पर धारयो टोप।
प्रतापसी तख्तेस रा, थारै लारै घटै, लंगोट।।

(हे तख्तसिंह के पुत्र प्रतापसिंह तुमने दाढ़ी-मूंछ कटा ली है, शिर पर टोप धारण कर लिया है, बस एक लंगोट पहननी बाकी है।) परिवर्तितकामी को निंदित करना नवीनता और जागरण के ही संकेत होते हैं।

इसी तरह राजस्थानी लोक देवताओं के चरित्रों में भी इसी पुनर्जागरण के पक्ष हैं। बाबा रामदेव आदि लोकदेवताओं को राजस्थान में 'पांच-पीर' कहा गया है। अब साम्प्रदायिक-सौहार्द अथवा राजाराम जी के अल्पसंख्यक की कोई अलग व्याख्या हो तो वे जानें।

'पाबू, हड़क राम दे, मांगलिया मेहा।
'पांचों-पीरं' पधारजो, गोगाजी जेहा।।

इसी तरह नारी अस्मिता की अनेक लोक-कथाओं इतिहास कथाओं, पुराण कथाओं से राजस्थानी लोक साहित्य भरा पड़ा है।

'बेटे से बेटी भली जो हो पूत कपूत।
अड़सी घर लालर नह होती, अड़सी जात अऊत।

(चित्तौड़, के राजा अरिसिंह के अगर एक बेटी 'लालर' नहीं होती तो अनेक बेटों के होते हुए भी वे निःसन्तान ही होते।

इस लेख में विचारणीय पक्ष राजाराम जी ने यह रखा कि बंगाल के पुनर्जागरण की बात की और आजादी के बाद के राजस्थान में इसकी प्रक्रिया को टटोला मैंने बंगाली पुनर्जागरण के बरक्स तक अशिक्षित समाज की श्रुति परम्परा के उदाहरण दिए हैं जो तत्कालीन राजस्थान में आए थे। अब अगर स्वतंत्रता के पश्चात् के राजस्थान की बात की जाए तो इस वैश्वीकृत और बाजारवाद के बीच राजस्थान तो क्या अन्य प्रदेशों की क्या स्थिति है?

हाँ अगर साहित्य और अन्य कलाओं से इनके संकेत वे देखना चाहें तो वे भी उपलब्ध हैं। 'गणेशीलाल व्यास उस्ताद ने 'आजादी' के चेहरे की पहचान कर ली थी और कहा था-

'राज बदलग्यौ, म्हाँनै कांई?'

(राज बदल गया है, हमें क्या मिला?)

और उन्होंने जातिगत राजनीति की तरफ भी संकेत उन्हीं दिनों में कर दिया था और कहा था-

'कांगरेस है जाट सभा री।'

इसी तरह रेवतदान चारण ने कहा था-

'आजादी रे जापौ होयो
पैली जलमी बेकारी।'

(आजादी के प्रसव हुआ है और सर्वप्रथम बेरोजगारी का जन्म हुआ है।) इसी तरह सांप्रदायिकता और पुनरूत्थान के प्रतिरोध में कवियों ने कहा है-

'फल सी ऊकती -- कम्पनी, घर में घुसग्यो कोक।
ठेलां चढग्या रामजी, तू रोक सकै तो रोक।।

(दरवाजे पर कम्पनियाँ खड़ी है, घर आंगन में अश्लीलता घुस आई है, भगवान राम जी ठेलों पर चढ़ गए हैं, तुम रोक सको तो रोक लो।)

यह सब कहने का तात्पर्य यही हैं कि पुनर्जागरण को वर्तमान में अगर हम राजस्थान के संदर्भ में परख रहे हैं तो हमें राजस्थानी भाषा और लोक के सांस्कृतिक संदर्भों से जुड़ना पड़ेगा। इतिहास, स्वप्न, स्मृतियां और प्रतिरोध भाषा में ही पनपते हैं और राजाराम जी उसकी तरफ से पीठ किए खड़े अपने निष्कर्ष निकाल रहे हैं। राजस्थान तो क्या समकालीन भारत में भी इस बाजारवाद और भूमंडलीकरण में कौन आंदोलनरत हैं? पुनर्जागरण की बात तो करना एक शगल जैसा ही है, क्योंकि बौद्धिक और कर भी क्या सकते हैं?

यहाँ लोकनाट्यों, लोकसंगीत और स्त्रियों आदिवासियों के गीतों की चर्चा इसलिए नहीं क्योंकि इनमें मैं गहरे नहीं उतरा हूँ। पर बचपन में देखे गए, एक लोकनाट्य के संवाद सामंती और सवर्ण मानसिकता पर जो प्रहार करते थे वे अत्यन्त ही मार्मिक और बेधक थे। वहाँ एक पात्र कहता है-

'एक प्रीत म्हांरी बामणां री कट्टी जै
कांधे राखै धागो।
जाय सिरारण हेलो पाड्यो
बांमण सूतो नागो।।

(एक प्रीत ब्रह्मणों की कहता हूँ वे कंधे पर धागा पहनते हैं। मैंने सिरावण (नाश्ते) के लिए आवाज दी तो देखो आगे ब्राह्मण नंगा सो रहा है, अर्थात वहाँ कुछ भी नहीं है।)

'एक प्रीत म्हाँरी रजपूतां री कही जै

हाथ में राखे पाती।

जाय सिरावण हेलो पाड्यो

लड़ै उघाड़ी छाती।।

(एक प्रीत राजपूतों की कहता हूँ वे हाथ में तीखा हथियार रखते हैं। मैंने सिरावण के लिए आवाज दी तो वे उघाड़ी छाती शस्त्र भांज रहे थे, अर्थात् वहाँ भी कुछ नहीं मिला।)

स्त्रियों के गीतों का, जैसा कि भादू जी ने विजय वर्मा जी के सन्दर्भ में कहा है, बहुत ही महत्त्व है और यह परम्परा भी लोपायमान ही है। बातें तो बहुत सी है पर सबको समेटना संभव नहीं है। लोक मुहावरों की ऐसी प्रगतिशील ध्वनियों से मौखिक परम्परा भरी पड़ी है। दो एक मुहावरे देखें -

(क) 'ठाकरां खल़ खावों हो कांई?

आ भी कुत्तां सूं छुडाई है भाई

(ख) ठाकरां बैठा हो? - थारै नी जचै तो गुड़ा दे भाई।

8 बी-47, तिरुपति नगर, नांदडी

जोधपुर

ताकि हम जीवन-नृत्य को और बेहतर नाच सकें

सवाईसिंह शेखावत

प्रेम के बाद

अजन्ता देव

गरम ही लगते है लू के थपेड़े
ठंड से और भय से / थरथराता भी है शरीर
थक जाते है पाँव चलते-चलते
प्रेम के बाद भी

प्रेम के बाद भी / कभी ऊब जाता है मन
कभी खींचता है लालच

आसमान और नीला / समन्दर और गहरा
जंगल और भी हरा / नहीं लगता प्रेम के बाद
सब कुछ याद रहता है / खर्चों का हिसाब
और लगातार पिछड़ते जाना / अपने जन्म का साल
और बढ़ते रक्तचाप के आँकड़े / बच्चों की बदतमीजी
बूढ़ों की नुक्ताचीनी / सब कुछ
अपमान, घृझा और क्रोध

याद रहता है प्रेम के बाद भी
प्रेम से पहले का जीवन

सिर्फ़ यह सब झेलने की ताकत
आ जाती है प्रेम के बाद

हम कवि जन प्रेम को लेकर अक्सर हास्यास्पद होने की हद तक चले जाते हैं। इससे रूमानियत भरी वायवीय कल्पनाओं के चलते प्रेम जैसा गरिमामय आवेग एक

बचकाने अनुभव में बदल जाता है। कहा भी जाता है कि अजी ये तो कवि जी हैं- अर्थात् सातवें आसमान के प्राणी जिसे सरजमीं अथवा दुनियादारी से कोई खास लेना-देना नहीं होता। कहा यह भी जाता है कि प्रेम को लेकर कवि की धातु में एक खास किस्म की गड़बड़ पाई जाती है- शायरों ने जिसे दीवानेपन की इंतहा कहा है। लगता है जैसे कवि का जीवन-यथार्थ से कोई लेना-देना नहीं होता। ऐसे में प्रेम को लेकर कवियों के बाबत प्रचलित तमाम किंवदन्तियोंको खारिज करती और प्रेम को जीवन के ठोस धरातल पर एक अनिवार्य केन्द्रीय नियामक की तरह प्रतिष्ठापित करती कवयित्री अजंता देव की कविता 'प्रेम के बाद' को पढ़ना एक दुर्लभ अनुभव है।

प्रेम की निरी रूमानी अवधारणा को तार-तार करती यह कविता हमें बताती है कि प्रेम के कथित विरल रूहानी अनुभव के बाद भी लू के थपेड़े गरम ही लगते हैं। प्रेम के बाद भी शरीर ठंड और भय से थरथराता है। पाँवों में चलते-चलते थकावट महसूस होती है। प्रेम के बाद भी मन ऊबता है, लालच अपनी ओर खींचता है। जैसा कि कहा जाता है कि आसमान और नीला, समन्दर और गहरा, जंगल और भी हरा नहीं लगता प्रेम के बाद। बल्कि सभी कुछ याद रहता है। जरूरी खर्चों का हिसाब, जीवन में लगातार पिछड़ने का भय, हमारे बुढ़ाने का साक्षी अपने ही जन्म का साल, रक्तचाप के बढ़ते आँकड़े, बच्चों की बदतमीजियाँ नुक्ताचीनी बूढ़ों की। तमाम अपमान, घृणा और क्रोध जो हमें जीवन में मिले। ऐसा कुछ नहीं होता कि प्रेम के बाद यह सब कुछ बिसर जाए। प्रेम के बाद भी हमें याद रहता है प्रेम के पहले का जीवन। लगता है जैसे प्रेम के अनिवर्चनीय अनुभव को खारिज करती यह कविता लगभग प्रेम विरोधी कविता है।

लेकिन इस कविता की महिमा इसी बात में है कि प्रेम की तमाम खाम-खयालियों को खारिज करते हुए भी यह अन्त में *'सिर्फ यह सब झेलने की ताकत/आ जाती है प्रेम के बाद'* कहकर समूची कविता को एक विलक्षण अर्थ दे देती है। अंग्रेजी में जिसे 'टर्निंग-पाइन्ट' कहा जाता है उसकी दुर्लभ मिसाल है यह कविता। प्राचीनों ने जिसे व्याज-स्तुति अलंकार कहा है, जिसमें निंदा के बहाने स्तुति और स्तुति के बहाने निंदा की जाती है, उसकी भी विरल बानगी है यह कविता। यह प्रेम के नाम पर प्रचलित तमाम-तमाम हवा-हवाई बातों को निरस्त कर उसे जीवन में केन्द्रीय शक्तिपीठ की तरह स्थापित करती है। जिसके होते हम में जीवन संघर्षों से जूझने की अन्दरूनी सामर्थ्य खुद-ब-खुद आ जाती है।

अपनी अन्तिम दो पंक्तियों तक पहुँचते ही यह कविता हम में कहीं बहुत गहरे जैसे दोबारा शुरू हो जाती है। जीवन से जुड़ी तमाम जद्दोजहद और कथित नकारात्मकताओं का साक्षात् कर यह हमें जीवन यथार्थ से रूबरू कराती हुई मानो कहती है कि जीवन के होने और चलते रहने के लिए गर्मी, लू, ठण्ड, भय, ऊब, लालच का होना भी उतना ही जरूरी है। क्योंकि गर्म लू के थपेड़े केवल जलाते-झुलसते ही नहीं वे हमें जीवन का जरूरी ताप भी देते हैं। वैदिक मनीषा ने जिसे काल-पुरुष का तप कहा है। ठण्ड और भय भी विपरीत

के प्रति हमारे संकोच को पुष्ट करते हैं। थकान चलने के बाद सुस्ताने का आमंत्रण भी तो है। इसी तरह ऊब अनुरक्ति का विपर्यय। उधर लालच न होता तो जीवन-व्यापार के प्रति आकर्षण कैसे जागता? जीवन में जरूरी खर्चों का हिसाब न होता तो दुनियाँ में किस कदर आर्थिक अराजकता होती। पिछड़ने के भय में ही क्या आगे बढ़ने की कुंजी नहीं छिपी है? रक्तचाप के बढ़ते आँकड़े केवल वार्धक्य का संकेत भर नहीं है, बल्कि वे हमें जीवन के अतिरेक को संयमित करने का मशिवरा भी देते हैं। उधर जन्म का साल इस बात का साक्षी है कि जीवन-यात्रा में हम कितनी दूर तक चले आये हैं। यदि बच्चे जीवन भर आज्ञाकारी ही बने रहें तो क्या वे निरे परावलम्बी नहीं हो जाएंगे? यह बदतमीजी ही है जो उन्हें कुछ अलग होने, करने को उकसाती है। जीवन के उत्तरार्द्ध में पिछवाड़े धकेल दिए गये बूढ़े यदि नुक्ताचीनी कर अपने दिल का भार हल्का न करें तो क्या पगला नहीं जाएंगे? दरअसल जीवन में कुछ भी निरर्थक नहीं है। जीवन के अनिवार्य द्वन्द्व में सबकी अपनी-अपनी भूमिकाएँ है, नकारात्मकताओं के भी सकारात्मक पहलू हैं।

अजन्ता की यह कविता जीवन की वास्तविकताओं का परोक्ष कथन करते हुए हमें बताती है कि जीवन का खेला अनवरत जारी रहे इसके लिए इन सबका होना जरूरी है। बल्कि कहना चाहिए कि इन सभी के होते-रहते ही जीवन खेल सुरक्षित है। जिस तरह गाड़ी की गतिशीलता को बरकरार रखने के लिए समय-समय पर उसकी ग्रीसिंग जरूरी है उसी तरह जीवन की गाड़ी की बेहतरी के लिए भी प्रेम के सांद्र तरल स्नेहिल स्पर्श का होना भी कितना जरूरी है। पिकासो ने कहा है कि कला आत्मा पर जमीं धूल को झाड़ देती है। ठीक उसी तरह प्रेम भी जीवन-यात्रा को सरस बनाये रखने का सबल जरिया है- ताकि हम जीवन-नृत्य को और बेहतर नाच सकें। इसी तथ्य को गहरी अर्थवत्ता देते हुए बुल्लेशाह ने कहा था- *मेरे इशक नचाया कर थैया-थैया*। अज्ञेय ने भी जीवन को दो विपरीत खम्भों के बीच का नाच कहा है।

जीवन यथार्थ और प्रेम को लेकर अक्सर फैज की इस नज्म का उदाहरण दिया जाता है कि '*अब भी दिलकश है तेरा हुस्न/मगर क्या कीजे/और भी दुख है जमाने में मुहब्बत के सिवा/राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा/मुझसे पहले सी मुहब्बत मेरे महबूब न माँग।*' लेकिन अजंता की इस कविता को पढ़कर बेहतर समझ में आता है कि प्रेम जीवन में दूसरी महत्वपूर्ण वरीयता के चलते स्थगित कर देने की चीज नहीं है। बल्कि वह जीवन का हर हाल में संग-साथ निभाने की किमिया मीरी है। जिसे लेकर शायर ने कहा है कि जीवन में '*यह गम होगा तो कितने गम न होंगे*'। राजेन्द्र यादव कवियों की तेजी से बढ़ती आबादी को लेकर खासे चिन्तित थे। लेकिन अजन्ता की इस कविता को पढ़कर बकौल जीवनानंददास जाना कि *सभी कवि नहीं होते, कोई कोई कवि होता है*।

7/86, विद्याधर नगर, जयपुर-302023

मो. 09636298846

दस जुराब

पद्मजा शर्मा

अब भी यह बात मेरी समझ से परे थी कि वे सिर्फ मेरे पति के ही जुराब क्यों ले जाते थे और क्यों नई जोड़ी का एक ही जुराब ले जाते थे जबकि दस के दस पुराने जुराब आज तक वहीं पड़े हैं।

अभी चार दिन पहले ही दो जोड़ी नए जुराब फिर निकालने पड़े।

आज पति ऑफिस जाने के लिए तैयार हो रहे थे। मैंने उनके पेंट शर्ट रख दिए। पॉलिश कर के जूते रख दिए। जुराब ढूंढ़े। आज फिर एक जुराब गायब था। दूसरी जोड़ी का यह हश्र दो दिन पहले हो ही चुका था। सुबह सुबह वाद विवाद से बचने के लिए मैंने दो जोड़ी नए जुराब फिर निकाल लिए। पर नए जुराब देखते ही इनकी भौंहें तन गयीं। एकाएक तैश मैं आकर बोले – ''मुझे नए नहीं, पुराने जुराब ही चाहिएं। आज तो फैसला हो ही जाना चाहिए।''

मैं क्या कहती। पुराना एक था पर दूसरा मिला ही नहीं, सब जगह ढूंढ़ लिया।

असल में जुराबों को लेकर तकरीबन डेढ़ महीने से घर में बवाल मचा हुआ है। इनके दो जुराब सुखाते हैं। लाने जाएं तो एक मिलता है। खास बात यह कि बच्चों के जुराब गायब नहीं होते। वे भी वहीं सूख रहे होते हैं। पर पति का एक जुराब अक्सर खो जाता है। यह समस्या आए दिन की हो गयी है। अब तक लगभग दस जुराब खो चुके हैं। यानी दस जोड़ी जुराब खराब । सबका एक एक जुराब सामने पड़ा मुंह चिढ़ा रहा होता है।

आज तो घर में जुराबों को लेकर बात बढ़ते बढ़ते इतनी बढ़ गयी कि तलाक तक पहुँच गयी। इन्होंने कहा – ''तू जुराब तक संभालकर नहीं रख सकती, मेरा घर क्या संभालेगी।''

मैंने कहा – ''आप एक जुराब जैसी नाचीज के लिये मेरा अपमान कर रहे हैं। इस घर को घर मैंने बनाया है। इस घर को 'मेरा घर' नहीं, कहिए। ''

''शब्दों को पकड़ना तो तुम्हारी आदत है। यह घर तुम्हारा भी होता तो क्या रोज रोज मेरे जुराब खोते। तुम अब तक पता नहीं लगा सकी कि आखिर जुराब जा कहाँ रहे

हैं? जाने किस दुनिया में खोई रहती हो। अरे, अपने पति की जरूरतों का ख्याल नहीं रख पाती वह कैसी पत्नी?''

''एक जुराब के लिए आप इस कदर तकरार कर रहे हैं, मिल जाएंगे, होंगे यहीं कहीं। कौनसे हीरे मोती चोरी हो गए हर सुबह मूड खराब कर देते हो मेरे जुराब, मेरे जुराब कर के''।

''कहीं न कहीं तो हैं ही पर कहाँ? जरा लेकर आओ न मेरे लिए जुराब हीरे मोती से भी कीमती हैं-'' वे गुस्से में उबल रहे थे।

''तो आप खुद ही ढूंढिए अपने जुराब। यह घर आपका ही है न।'' अब मैं भी गुस्से में थी।

''हाँ है, ताने क्या मार रही हो, ढूंढ लूंगा और न ढूंढ पाया तो नए ले आऊँगा पर तुम्हें किस दिन के लिए लाया हूँ। तुम्हारी पूजा करूंगा? तुम्हें चौकी पर बिठाऊंगा क्या?''

''क्या तुम मुझे अपने जुराब ढूंढने के लिए लाए हो? अगर ऐसा है तो तुम भूल कर रहे हो। जुराब वाली समस्या मेरी अकेली की नहीं है। मैं तो सारा दिमाग खपा चुकी। कुछ समझ नहीं आ रहा है। आप ही बताओ न कोई रास्ता जिस पर चलने से जुराब मिल जाएं।''

''कान खोलकर सुन लो। तुम्हें घर के काम तो करने ही पड़ेगें। अब तक मैं चुप था। पर अब चुप नहीं रहूँगा। मैं ही कमाऊँ। मैं ही जुराब ढूंढू। तुम क्या करोगी?''

''बोल तो ऐसे रहे हो जैसे आज तक कभी बोले ही नहीं और मैंने घर के काम किए ही नहीं। जैसे कि अभी तक कोई और ही घर के काम कर रहा था।''

''समझो कि नहीं कि बोला, बोलता तो इस घर की यह दुर्दशा न होती और तुम मुझसे इस तरह सवाल जवाब नहीं करती'' - उन्होंने व्यंग्यात्मक लहजे में कहा।

''तो बोलो। खूब बोलो'' - अब मैं भी चीख रही थी।

''तो सुन'' - उन्होंने अल्टीमेटम सा देते हुए मुझसे भी तेज आवाज में कहा - ''आज मेरे सारे जुराब मिल जाने चाहिएं वरना मैं तुझसे तलाक ले लूंगा। तू अपनी माँ के घर चली जाना। यहाँ मेरा काम ही क्या है? मैं रोज रोज की किच किच से तंग आ चुका हूँ। आज दफ्तर जाने से पहले वकील के पास जाऊंगा'' और वे बिना नाश्ता किए ही घर से निकल गए।

पति का यह रौद्र रूप देखकर मेरे पांवों तले से जैसे जमीन खिसक गयी। जुराब के लिये ये तलाक की बात कर रहे हैं। क्या एक जुराब को लेकर कोई तलाक के विषय में सोच भी सकता है। जरूर कोई और बात है। जुराब तो बहाना है। मेरी आँखों में आँसू

आ गए। धरती ऊपर, आसमान नीचे हो गया। जुराब वाला विषय नेपथ्य में चला गया। मेरी सोच ने अलग दिशा पकड़ ली, मुझे अपने पति से जुड़ी कुछ पुरानी घटनाएं, कुछ दृश्य, कई किस्से याद आने लगे। हिन्दी दिवस था। इनके दफ्तर में काव्य गोष्ठी रखी थी। दफ्तर वालों के परिवार भी आंमत्रित थे। ये ही ओर्गेनाइज कर रहे थे। बाहर से भी गेस्ट आए थे। उस कार्यक्रम के दौरान इनके दफ्तर में काम करने वाली नंदिता इनके कान के पास मुँह ले जाकर धीरे धीरे कुछ कह रही थी, मैंने इनके इतना करीब उसे देखा तो बहुत बुरा लगा पर सब के बीच में कुछ नहीं कह पाई। कई दिन तक वह दृश्य मुझे मथता रहा। पर पति से उसकी नजदीकी के बारे में कुछ पूछने की हिम्मत नहीं हुई पता था पूछूंगी तो सदा की तरह कहेंगे - "तुम्हारी दृष्टि संकुचित है। तुम पढ़ी लिखी, मूर्ख जाहिल हो। तुम मेरे दोस्तों के बीच ले जाने लायक नहीं हो। घर पर ही रहा करो। अब समझ में आ रहा है तुमने नौकरी क्यों छोड़ी। बच्चे और मैं तो बहाना थे। असल बात तो यह थी कि तुमसे हुई ही नहीं। "

इसी तरह एक दिन इनके मोबाइल की लम्बी घंटी बजी मैंने मोबाइल उठा लिया। उधर से एक लड़की इतराती हुई बोली - "हैला सर" पर जैसे ही मैंने हैलो कहा उसने फोन काट दिया।

ऐसा पहले भी कई बार हो चुका था। एक बार मैंने इन्हें यह बात बताई तो बोले - "तुझे कह रखा है कि मेरा मोबाइल उठाया ही मत कर। विवाह को आठ साल हो चुके हैं फिर भी वहम के समंदर में डूबी रहती है तो डूबी रह। मेरे तो ऐसे फोन आएँगे। बोल, क्या कर लेगी।"

एक बार हम बाजार में थे। वहाँ इनसे एक लड़की मिली। इनके साथ देर तक हँस हँस कर बातें करती रही। इन्होंने उससे मेरा परिचय करवाना भी मुनासिब नहीं समझा। मैं उपेक्षित सी खड़ी रही। तकरीबन आधे घंटे बाद जब वह चली गयी तब मैंने इनसे पूछा - "कौन थी, क्या नाम था।" तो चिढ़कर बोले - "मैं उसका नाम नहीं जानता। वैसे तुम्हें क्या लेना-देना इस सबसे मेरे प्रोफेशनल रिश्तों से तुम दूर ही रहो तो बेहतर है। तुम्हें महीने के आख़िर दिन पैसे मिल जाते हैं न।"

प्रोफेशनल रिश्ता है पर नाम नहीं जानते। जानते नहीं कि बताना नहीं चाहते। मैं मन ही मन कुढ़ कर रह गयी थी। कई बार इनका कोई फोन आता है तो घर के बाहर जाकर देर तक हंस हंस कर बात करते हैं इसी तरह की कितनी सारी बातें थीं जो मुझे सताने लगी। हो न हो कहीं इनके जीवन में कोई और है तभी ये जुराब के बहाने मुझसे तलाक की बात कर रहे हैं। दूसरों से हंसकर बोलते हैं पर मुझसे चिढ़ते रहते हैं। मुझसे चाहते हैं कि मैं नौकरानी की तरह हुक्म बजा लाऊँ। मैं कोई अनपढ़ गंवार तो हूँ नहीं, घर में भी दिन भर खटती रहती हूँ फिर भी काम को कोई सम्मान नहीं। मेरी कोई इज्जत नहीं।

मेरे आंसू रुकने के नाम ही नहीं ले रहे थे। आज अगर जुराब वाला मामला न सुलझा तो बात बढ़ जाएगी। जुराब और तलाक इन दो शब्दों ने अच्छे भले दाम्पत्य जीवन में बैठे बिठाए भूचाल ला दिया। यह तो मेरे लिए भी चिंता की बात थी कि आखिर जुराब जा कहाँ रहे हैं? ऐसा कौन कर रहा है? क्यों कर रहा है? कुछ समझ में नहीं आया पिछले डेढ़ महिने में दस जुराब खो गए। एक का भी सुराग नहीं। घर का कोना कोना छान मारा। नहीं देखने की जगहों पर भी देखा किताबों की आलमारी में ढूंढा। गर्म कपड़ों की आलमारियाँ भी खंगाली। बच्चों का एक एक जूता भीतर से देखा। वाशिंग मशीन को खिसकाकर उसके पीछे देखा। मन्दिर में भी नजर डाली। घर पर काम के लिए सहयोग आता था। उस पर शक की उंगली उठाई पर एक जुराब का वह क्या करता। इस दौरान धोबी का नाम भी आया। शायद गलती से प्रेस के कपड़ों के साथ चले जा रहे हों और वह वहीं रख रहा हो। पर एक जुराब का वह भी क्या करता। शायद कार धोने वाले ने . .. मैंने खुद को भी दोषियों के कटघरे में खडा किया। शायद मेरी लापरवाही है। मैं घर के प्रति गंभीर नहीं हूँ। बच्चों को ऊपर खेलने से मना किया। शायद इधर उधर कर देते हों।

असल में उन सारे लोगों पर शक हो रहा था जो किसी न किसी रूप में घर आते जाते थे। या कि घर में रहते थे। सारी दुनिया पर शक लेकिन इस शक को विश्वास में कैसे बदलें। कोई प्रमाण तो मिले।

अब मैंने आंसू पौछे। सोचा आज पता लगाकर ही रहना है। जुराबों के खोने और पति की तलाक की धमकी के पीछे के कारणों का। यूं छोटी छोटी बातों पर वे मोटी मोटी धमकियां तो कई बार देते रहते हैं कि आज दफ्तर से लौटकर नहीं आऊँगा। मैं घर छोड़कर चला जाऊँगा और चला गया तो तुम्हें यह दुनिया जीने नहीं देगी। मेरे अपने ही तुम्हें नोच नोचकर खा जाएंगे। अब से तुम्हारा घर खर्च बन्द। अभी एक महीने कोई बाजार, कोई खरीदारी नहीं। बड़ी मेहनत से पैसे कमाता हूँ। खून पसीना एक करता हूँ तब जाकर कहीं पैसे आते हैं। मैं भी बराबर उनसे हिसाब चुकता करती रहती हूँ कि हम कोई होटल नहीं जाते। सिनेमा नहीं जाते, कोई फैशनेबल - कीमती कपड़े नहीं लाते। अब दाल रोटी पर पैसे तो आपको खर्च करने पड़ेंगे ही। ब्याहकर लाए हो। लट्टू आप हुए थे। कोई और नहीं पर आज वाली धमकी तो ऐसी थी कि जिसने मेरे पूरे वजूद को हिलाकर रख दिया। पति के लिए यह कहना आसान होता है 'तलाक दे दूँगा' ।

अपनी माँ के घर जाओ पर पत्नी के लिए तो यह उसके अस्तित्व का सवाल हो जाता है जिस आदमी के पीछे अपना घर छोड़कर आती है वही आदमी एक दिन कहे कि अपनी माँ के घर लौट जा। माँ का घर जब माँ का ही न हो तब कहाँ जाया जाए? क्या माँ का घर उसका घर है? ऐसे में क्या करे पत्नी? कहाँ है उसका अपना घर? कौनसा है उसका अपना घर? पति की धमकी ने मुझे सोचने के लिए मजबूर कर दिया कि आखिर

एक औरत का घर ससुराल होता है कि पीहर होता भी है कि नहीं। वह घर में रहते हुए बेघर होती है।

सोच सोच में ही बहुत वक्त निकल गया। पर मैं अब एक नई सोच के साथ खड़ी हुई मैंने तय कर लिया था कि बेटी को पढ़ने की पूरी आजादी दूंगी। वह जॉब करेगी और मैं उसे गिफ्ट में घर दूंगी। जिसकी चाबी उसके हाथ में होगी। घर छोटा सा ही सही। पर जहाँ वह जब चाहे तब जा सके, रह सके। जिसे अपना कह सके। जिसके दरवाजे उसके लिए सदा खुले रहें। जहाँ जाए तो लेश मात्र भी यह संकोच न हो कि भीतर कैसे जाऊं। कितने दिन रुकूं। भाभी को कैसा लगेगा। भाई क्या सोचेगा।

शाम को ननद का फोन था। वे कल जोधपुर आ रही है। उनके बेटे की बैंक क्लर्क की परीक्षा है। मेहमानों का कमरा ऊपर है। मैं ऊपर जाकर सारी व्यवस्थाएं देख रही थी। कमरा, पंलग, चद्दर सब ठीक ठाक कर लिया। तकियों के कंवर बदले बाथरूम में भी साबुन, तेल, शैम्पू, कंघा, तौलिया, बाल्टी, मग सब रखे, बाथरूम चूंकि कई दिन से इस्तेमाल नहीं किया था, मिट्टी मिट्टी हो रही थी। सोचा इसमें बाल्टी भर पानी डाल देती हूँ साफ हो जाएगा। मैंने पानी डाला।

नाली से पानी बहुत धीरे धीरे जा रहा था। बाथरूप पानी से भर गया और पानी दरवाजे से बाहर निकलने लगा। जरूर नाली में कुछ फंसा है देखने पर तो ठीक से कुछ दिखा नहीं हो सकता है बच्चों की बॉल नाली में चली गयी हो, हो सकता है नाली में कचरा आ गया हो, हो सकता है कोई कपड़ा अन्दर चला गया हो। पर पानी का निकलना बहुत जरूरी है कल ही ननद आने वाली हैं। कैसे मैनेज होगा। मैंने पास के चौराहे से एक मजदूर को बुलवा लिया।

पानी धीरे धीरे निकल रहा था बाथरूम में पॉट के पास वाली दूसरी नाली पर मेरी नजर गयी उसमें से कपड़े जैसा कुछ झाँक रहा था। मैंने उसे खींचकर बाहर निकालने की कोशिश की। वह बाहर नहीं आया। तब तक मजदूर आ गया था।

उसने कपड़ा खींचा, खींचता गया। कपड़ा बाहर आता गया सारा कपड़ा कीचड़ में सना हुआ था। दुर्गन्ध भी आ रही थी। पर अब नाली से पानी बराबर जा रहा था। कोई रुकावट नहीं थी। चलो एक समस्या से तो मुक्ति मिली।

मैंने गीजर ओन कर दिया अब मजदूर ने गर्म पानी की नल चालू कर दी। जिससे कीचड़ और नाली साफ हो सके।

सवाल था यह कपड़ा नाली में आया कहाँ से कौन लाया? मजदूर ने उस कपड़े को गर्म पानी में डाला। उसे कुछ साफहोने के बाद देखा तो मेरी आँखें खुली की खुली रह गई वह कोई कपड़ा नहीं जुराब थे। सारे जुराब आपस में जुड़े हुए थे। जैसे सबको एक क्रम में रखकर किसी ने सिलाई मशीन फेर दी हो। मैंने जुराबों को खींच खींचकर

एक दूसरे अलग किया। फिर उनकी गिनती की दस जुराब तो थे ही एक बनियान और रूमाल भी मिला।

मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। जुराब यहाँ कैसे पहुंचे? यहाँ नाली में किसने ठूंसे होंगे। कोई ऐसा क्यों करेगा। पर किसी ने किया तो है ही पर किसने?

अब तक पति दफ्तर से आ गए थे। उन्हें जुराब दिखाए। वे कभी मेरी तरफ देख रहे थे, तो कभी जुराबों की तरफ कभी नाली की तरफ बच्चों को जुराब दिखाए उन्होंने देख-दाखकर मुंह बिचकाते हुए कहा ये बहुत गंदे हो गए हैं। इन्हें फेंक दो बास आ रही है।

जुराब फेंक दिए। गीजर ऑफ कर दिया। गर्म पानी का नल बंद कर दिया। मजदूर ने बाथरूम साफ कर दिया बत्ती बुझा ही रहे थे कि नाली से दो बड़े बड़े चूहे निकलकर तेज गति से सीढ़ियां उतर गए मैं और बच्चे तो घबराहट में चीख पड़े - 'चूहे'।

मजदूर सब समझ चूका था। उसने कहा ''जुराब चोर भाग गए साहब। नाली में इन चूहों ने ही जुराबों से अपना घर बनाया था। ठण्ड में ये बेचारे कहाँ जाते। सो गरमास के लिए जुराब खींच ले गए।''

उसे इस बात का अफ़सोस था कि उसने इनका घर उजाड़ दिया। बेचारे निरीह जानवरों को बेघर कर दिया। वह भी सर्दी में। मजदूर अपनी मजदूरी लेकर जाने लगा तो पति कहा ''भाई रुको, घर की सारी नालियाँ की जालियों को सीमेंट से बंद करके जाओ। जिससे भविष्य में कभी यह समस्या न आए।''

मजदूर नालियों की जाली बंद कर रहा था। बच्चे चूहों की करामात पर हँसते, घबराते हुए नीचे जा चुके थे। पति मुझसे नजरें नहीं मिला पा रहे थे। वे भी धीरे धीरे सीढ़ियों की तरफ जाने लगे मुझे उनसे बात करनी थी। मैंने बिना किसी भूमिका के अपनी बात कहीं ''आज ही राष्ट्रीय महिला महाविद्यालय में व्याख्याता की पोस्ट एडवर्टिज हुई है। मैं उसके लिए एप्लाय करूँगी।''

''नौकरी छोड़ने के आठ साल बाद, अब नौकरी कौन देगा तुम्हें?'' इन्होंने कहा।

मैंने उन्हें बताया ''सुबह महाविद्यालय से प्राचार्य की का फोन आया था। वे मेरी टीचिंग को भूले नहीं थे। कह रहे थे। आप तो फॉर्म भरो। बाकी मैं सब देख लूँगा।'' मैंने कहना जारी रखा ''आज आपने मुझे बहुत बड़ा पाठ पढा दिया। कड़वे यथार्थ से सामना करवा दिया। अन्यथा यह सच मैं कभी नहीं जान पाती कि औरत का कोई घर नहीं होता। मैं सोचती थी यह घर हमारा है। आज पता चला यह तो आपका घर है मेरा तो कोई घर ही नहीं है। मैं तो किसी और के घर में रह रही हूँ। मेरे साथ जो हुआ, हुआ पर मेरी बेटी के साथ ऐसा न हो इसलिए मैं नौकरी करूंगी।''

पति ने पूछा – "मतलब?"

मैंने कहा "मतलब साफ़ है पर अब थोड़ा समझाकर बताऊँगी। मैंने कालेज की नौकरी छोड़ दी थी। कि बच्चों और आपको समय दे सकूं। मैंने अपनी सामर्थ्य के मुताबिक घर को सम्भाला। कभी किसी तरह की कोई परेशानी किसी को नहीं होने दी। क्या आज तक आपको एक दिन भी ऐसा याद आता है जब मैं बीमार होकर बिस्तर पर पड़ी हूं। बीमारी की स्थिति में भी काम किया कि यह समय सोने का नहीं है। छुट्टियों में भी माँ के घर कभी ठीक से नहीं रह पाई। पहले बच्चे छोटे थे। आज बुखार है। डाक्टर के ले जाना है अब स्कूल में भरती कराना है। अब पढ़ाना है। अब इनके खेल का समय है। अब खाने का समय है। थोड़े बड़े हुए तो सोचा समय मिलेगा। पर मेरे लिए समय सिकुड़ता चला गया। कभी आपके ट्यूअर कभी मेहमान। कभी बच्चों के प्रोजेक्ट्स अपने लिए समय कहाँ था मेरे पास मैं ठीक कह रही हूँ ना?"

पति ने कहा – "हाँ तो? सब औरतें यही करती हैं।"

मैंने कहा "विवाह के तीस साल बाद अदने से जुराब को लेकर एक झटके में आपने मुझे मेरी हैसियत बता दी। कि तुम यह घर छोड़कर जा सकती हो। कि घर आपका है। कि मैं नौकरी कर नहीं सकी। आपने इस तरह मेरे साथ बुरा बर्ताव किया। पर मेरी बेटी के साथ कोई ऐसा न कर सके इसलिए मैं रुपए कमाऊँगी और बेटी को घर बनवा कर दूंगी। रही बात मेरी तो मेरे बिना रहने की हिम्मत है तो जरा कुछ दिन रहकर देख लो। मैं अपनी सहेली के बेटे की शादी में कलकत्ता जाने की सोच रही हूँ। आप मेरे बिना रह लोगे तो मैं भी अकेले रह लूंगी। उसका घर यहाँ खाली पड़ा है।"

मेरा यह निर्णय और आत्मविश्वास देखकर मेरे पति चकित तो थे ही, शर्मिन्दा भी थे वे कुछ बोलना चाह रहे थे। पर बोल नहीं पा रहे थे। वे क्या बोलना चाह रहे थे। मैं सब जान रही थी पर अनजान बन रही थी। मैं आज तक बोली ही नहीं बस सुनती रही बोलने की जगह बोलना चाहिए था। आज बोली हूँ मुझे यह बात समझ में आ गयी है कि मौन वहीं रहो जहाँ उसका अर्थ समझने वाला कोई हो। पर अब भी यह बात मेरी समझ से परे थी कि चूहे सिर्फ मेरे पति के ही जुराब क्यों ले जाते थे और क्यों नई जोड़ी का एक ही जुराब ले जाते थे। जबकि दस के दस पुराने जुराब आज तक वहीं पड़े हैं।

15 बी, पंचवटी कॉलोनी,

सेनापति भवन के पास, जोधपुर–342011 (राज.)

कविताएँ

मोदनी

उत्तिमा केशरी

जेठू रिषि की बेटी
मोदनी
लौटती है अपने घर
रेशम सिंह मुखिया के
खेत से काम कर
तब
गोधूलि होने लगती है
तब्दील
अंधेरे में।
लौटने लगते हैं
पक्षीगण, संगीत, अलापने
अपने-अपने
घोंसलों की ओर!
साथ ही
देखती है मोदनी
अपने नंग-धरंग
भाई - बहन को
धूल भरी
सड़कों पर खेलते।
भूखी-रंभाती गाय

टूटी खाट पर कराहते बाप
अलाव पर
घोंघा, केकड़ा, शकरकंद
सेकती माँ।
तो कुछ पल
वह
ठिठक जाती है
दरवाजे के भीतर उत्तर-कोण में
झुके उगे
पीले कनेर के नीचे।
वह करने लगती है
आत्म-संवाद
कि
आखिर क्यों नहीं मान लेती?
मुखिया जी की बातें
जिनकी घर वाली रोगी है
वर्षों से।
मोदनी
त्याग देती है
अपनी इज्जत, प्रतिष्ठा
मान-मर्यादा
जिसे बचाकर रखी थी
अब तक।
चल पड़ती है
मुखिया जी की
हवेली की ओर
अपनी मौन-स्वीकृति लिए

भट्ठा दुर्गाबाड़ी
पूर्णिया -854301 (बिहार)

रोज़लीन

सघन रातों में

मैं जानती हूँ प्रिय
किसी एकांत में
घड़ी भर सही
तुमने मुझसे प्रेम किया है
तुम मेरे हाथों को
अपने हाथों में लिए बैठे रहे
उन चुनिंदा सघन रातों में
जिनकी गंध बेतहाशा निराली थी,
तुम मेरी आंखों में झांकते हुए
बंद होंठों से सुनाते रहें
कभी न खत्म होने वाली
एक लम्बी सरस कविता
और फिर! / मेरा कोई उत्तर न पाकर
प्रेम की झील से नाता तुड़ा
तुम किस अंजान दुनियां की ओर
मुड़ चले हो? / क्या तुम्हें पता है
उस बंजर परिवेश में
सरसों के फूल नहीं लहराते,
जहाँ कल्पनाओं तक में
प्यास बुझाने का साधन नहीं
वहाँ मरु में कैसे पाओंगे

भला जल की एक धार!
यह जानने से पहले
कि बढ़ते फासलों के बीच,
मैं तुम्हारे कितने करीब / होती चली गई
तुम्हारा हर आंसू मेरी पलकों से झरता रहा,
हर उत्सव में / तुम्हारे कांधे पर
सिर टिका देने का मतलब यही था
कि मुझे!
प्रेम का प्रमाण देने की जरूरत नहीं है।

मेरे भीतर की वो एक रात

सुनिए . . . . . .
हमेशा की तरह / एक छटपटाहट
कोई टीस / किसी उधेड़-बुन में पकती हलचल
ले आई तुम्हारे पास / कुछ
अनसमझा / अनकहा / जो मेरे कहने / या
समझाने से बाहर था
मैंने चाहा- / मेरे भीतर की
वो एक बात,
एक गीत,
एक कविता
सिर्फ .. . . . !
तुम ही कहो
और मैं
तुम्हे अपलक निहारती
सब सुनती रहूँ।

13-बी, एच.ए.पी. मधुबन,
करनाल - 132001

दो कविताएँ

खेमकरण 'सोमन'

स्त्रियाँ गा रही होंगी गीत

मुझे विश्वास है
कल भी नदियों में पानी होगा
फूलों में खुशबू
खेतों में फसलें होंगी
जल जंगल जमीन बचे रहेंगे
और / पेड़ों में फल भी
भीषण गर्मी ही सही
हवाएं ठंडी चल रही होगी
छाँव में सुस्ता रहे होंगे राहगीर
स्त्रियाँ गा रही होंगी गीत
जिनमें होंगी नई उम्र की लड़कियां भी
जब किसी भी गाँव से/ गुजर रहा होगा हमारा कारवां
या काफिला
मुझे विश्वास है
पहाड़ कल भी अड़ा होगा
सीना तान खड़ा होगा
विचारों में होगी दृढ़ता
सूरज निकल रहा होगा / चाँद दे रहे होंगे सन्देश
सांझ हो रही होंगी

और हो रहा होगा और भी बहुत कुछ अच्छा
घरों में पक रही होंगी रोटियाँ
खा रहे होंगे नन्हें बेटे-बेटियाँ
और/ये बच्चे भी होंगे कल हमारे साथ
विकृत होती दुनिया को पढ़ने/बचाने
गढ़ने की भूमिका में
विश्वास है मुझे यह भी
कल भी नहीं बदलेंगे/जैसे आज तक नहीं बदले हैं
वे लोग / जिनके कन्धों पर है भार
मेरी तरह / आपकी तरह
अपने समाज को खूबसूरत बनाने का
ऐसे समय में / या पूंजीवाद के इस दौर / दौड़ में
जब आदमी बदलता जा रहा हो
चमक पैसे की खींच रही हो
बिक रहा हो ईमान / आदमी भी
तब बातें ये भयातुर हेतु कम नहीं और कम नहीं खतरा भी
लेकिन विश्वास है मुझे
बदलने की तमाम परिस्थितियों के बावजूद
नहीं बदल रहे होंगे वे
और तय कर रहे होंगे लम्बी दूरियाँ
लम्बी लड़ाईयां / सबको लामबंद करते हुए
हाँ यह भी कि
जब योद्धा गुजर रहे होंगे / किसी भी गाँव से
स्त्रियाँ गा रही होंगी गीत
जिनमें होगी नई उमर की लड़कियां भी
लड़कियाँ अपने गीतों में दर्ज कर रही होंगी
अपने समय का संघर्ष
मुझे विश्वास है।

कब नहीं रोया है पहाड़

पहाड़ पर कब नहीं
कहर ढ़ाती हैं प्राकृतिक आपदाएं
कब नहीं टूटते हैं मकान
कब नहीं बहते हैं आशियाना
कब नहीं पहाड़ की महिलाएँ
भूल जाती हैं डरकर गीत गाना
कब कब नहीं मरते हैं हजारों लोग
कब नहीं धँसता है पहाड़ / पहाड़ पर
कब नहीं नदियों में बहती हैं लाशें
कब नहीं रोता है पहाड़ / रोते हैं पहाड़वासी
कब नहीं मिला है
एक हजार करोड़ रुपये
दो हजार करोड़ रुपये
या कब नहीं मिला है पहाड़ के लिए
अरबों-खरबों रुपये / और कब नहीं हुआ है इनका गबन
कब नहीं रोया है पहाड़
कब नहीं / पहाड़ के रोने पर
कर्ताओं-धर्ताओं को मिला है मौका/ अवसर
ब्रेकफास्ट / लंच / डिनर करने का कब नहीं?

प्रथम कुञ्ज, ग्राम व पोस्ट-भूरारानी, रूद्रपुर,
जिला -ऊधम सिंह नगर, उत्तराखंड- 263153

रजनी मोरवाल

हैं हवाएँ भी पशेमां

शख्स है सारे पशेमां शहर में मेरे।
गुम हुई लब से हंसी
बेज़ार हैं आँखें,
सब यहाँ ओढ़े लबादा
दे रहे धोखे,
कौन अब पकड़े गिरेबां शहर में मेरे।
सज रहे बाजार
जिस्मों की कगारों पर,
बिक रही इज्जत
सफलता के किनारों पर,
हैं हवाएं भी पशेमां शहर में मेरे।
दुश्मनी के छोर
साहिल पर हुए चौड़े,
नफरतों की आंधियों ने
रुख नहीं मोड़े,
ज़हर में डूबी फ़िज़ा है शहर में मेरे।

अनबुझी वह प्यास

झुग्गियाँ पसरी पड़ी थीं जो सड़क के पास
तेज बारिश में बही कल रात उनकी आस।
नम हुई आँखें धरा की
देख यह हालात,
बेघरों के साथ जागी
वो भरी बरसात,
क्यों गरीबी भोगती है हाय यह संत्रास।
टापरों ने रूग्णता की
दी दुहाई आज,
बर्तनों ने ढांक मुंह को
थी छुपाई लाज,
बेबसी शर्मिंदगी का कर रही उपहास।
देह जो सिमटे पड़े थे
चौंक कर जागे,
खाट के खुलकर गिरे
कमजोर से धागे,
रह गई प्रेमी-युगल की अनबुझी वह प्यास।

सी-204, संगाथ प्लेटीना,
साबरमती-गाँधीनगर हाईवे,
मोटेरर, अहमदाबाद-380005
मो. 09824160612

प्रेम गीत

राजीव कुमार स्वामी

धरती से आकाश तक फैली है
प्रेम की दुहाई
प्रेम ही तो बौराया है
तलहटी की उस अमराई में
प्रेम ही ने सजाए हैं तितली के पंख
प्रेम ही तो ठुमकता है सावन की पुकार पर
मोर के पंख लगाकर / कुलांचे भरता है
हिरणों के साथ / सप्तम स्वर में गूंजता है
कोयल के कंठ से / प्रेम ही फूटता है
धरती की कोख से / पहली बारिश के बाद
अखुए बनकर / उम्र की तरुणाई में झांकता है
कच्चे गालों से / और रचता है
दुनिया की सबसे अच्छी और सच्ची / कविता
प्रेम ही ने तो बसाया है / धरती के पहले आदमी के
सृष्टि का सम्पूर्ण जीवन / एक प्रेमगीत है
सचमुच.

स्नातकोत्तर शिक्षक, हिंदी
केन्द्रीय विद्यालय चूरू, (राज.) पिन - 331001

बालसाहित्य : मनोवैज्ञानिक पहलू

—प्रा. शशिकांत पशीने 'शाकिर'

आज के बच्चे कल के समाज और देश के कर्णधार हैं। एक स्वस्थ समाज और उन्नतशील देश के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि बच्चों को स्वस्थ एवं स्वाभाविक ढ़ंग से विकसित होने दिया जाए। बाल्यावस्था की कुछ मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं, जैसे - जिज्ञासा, रचनात्मकता, आत्मप्रदर्शन, अनुकरण स्पर्धा, आवर्तन, निर्देश मानना, विनय, सहानुभूति आदि। बालमन जितना सुकोमल और संवेदनशील होता है उतना ही वह जिज्ञासु भी होता है। बालक उन रचनाओं को पसंद करता है जो उसके मन के अनुकूल हों।

इस वैज्ञानिक युग में संचार के आधुनिक संसाधनों के कारण बालक की मानसिक क्षमता में वृद्धि हुई है, फलस्वरूप आज वह ज्ञान-विज्ञान की बारीक रेखाओं को भी पकड़ सकता है। बालकों को आज ऐसा बाल साहित्य चाहिए जो बच्चों को संस्कार दे सके, उनकी विचार धारा को पुष्ट कर सके तथा एक विकसित समाज और उन्नत भविष्य के निर्माण हेतु उन्हें मार्गदर्शन देते हुए अग्रसर कर सके। आज हमारे बच्चे विज्ञान के युग में पहुंच गए हैं। वे कल्पनाशील हैं, इस कारण उनके सपनों को साकार करने वाले बाल साहित्य का निर्माण करना अनिवार्य है।

पाल हेजार्ड के शब्दों में - ''पुस्तकें वे ही अच्छी होती हैं जो बच्चों को बाह्य ज्ञान ही नहीं बल्कि अंतर्ज्ञान भी दे सके।''

बाल साहित्य बड़ों के साहित्य से भिन्न एक सृजन-रूप है जिसका एकमात्र लक्ष्य बालक है। यह बच्चों की प्रकृति को, उनकी कल्पना, उनके सपनों और उनकी आकांक्षाओं को केन्द्र में रखकर लिखा जाता है। प्रौढ़ साहित्य का प्रमुख आधार जीवन के अनुभव हैं जबकि बाल साहित्य बाल मनोविज्ञान, बाल कल्पना और बालजीवन से संबंधित होता है। बाल मनोविज्ञान को समझना, बाल कल्पनाओं और रुचियों को वास्तविक रूप से समझना तथा बच्चों की गतिविधियों का अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन

करना आसान नहीं है। इसलिए बालोपयोगी साहित्य का सृजन करना उतना आसान भी नहीं है जितना हमें दिखाई देता है।

इतिहास - शुद्ध और मौलिक हिन्दी बाल साहित्य की विधिवत शुरुआत भारतेंदु युग से ही आरंभ हुई। भारतेंदु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से 1862 में 'बाल दर्पण' नामक बच्चों की पहली पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दीं में संसार के प्राय: सभी देशों के साहित्यकारों ने बाल साहित्य के विकास के लिए प्रयास आरंभ किए। बीसवीं शताब्दी आते ही बालसाहित्य में विश्वव्यापी क्रांति आ गई। उसे केवल नैतिक उपदेश देनेवाली सीमा से बाहर निकालकर बच्चों के मनोभावों और जीवन को अधिक महत्व दिया जाने लगा ताकि वे यथार्थ की दुनिया से जुड़कर जीवन के सत्य एवं मूल्यों को पहचानने योग्य बन सकें। आज के बदलते परिवेश में उन्हें ज्ञान-विज्ञान की आधुनिक जानकारियाँ भी दी जाने लगी हैं। आजकल अधिकांश बालसाहित्य बच्चों की बौद्धिक क्षुधा के लिए पुष्टिकर सिद्ध हो रहा है।

बाल साहित्य का लक्ष्य बच्चों के मानसिक स्तर पर उतरकर उन्हें रोचक ढ़ंग से नई जानकारियाँ देना है तथा शिशुमन की चंचल जिज्ञासाओं को नवीन अनुभवों और शिवसंकल्पों से प्रेरित करना है। **डॉ. रत्नाकर पांडेय** के मतानुसार "बाल साहित्य बच्चों के भीतर ऐसी क्षमता जाग्रत करता है जिससे वे प्रत्यक्ष जगत् से ऊँचे उठकर अपनी मनोभावनाओं का परिष्कार कर और दृढ़ साहस से अपनी बुद्धि का विकासकर, जिज्ञासाओं की परितृप्ति का साहस कर सकें। सच्चा बालसाहित्य बच्चों को मनोरंजन के साथ-साथ उन्हें सत् असत् को पहचानने की दृष्टि देता है" (भाषा पत्रिका मई-जून 2007, पृ. 55)

आज के बच्चों की मनोवैज्ञानिक समस्या है- निरंतर गतिशीलता, समाज में स्वयं के लिए महत्वपूर्ण स्थान बनाए रखने की समस्या तथा वर्तमान समय में शिक्षा, औद्योगिकीकरण, बाजारीकरण व प्रतियोगिता के कारण आए बदलावों के दौरान अपने भावी जीवन में आर्थिक रूप से टिक पाने की समस्या। इसलिए बालसाहित्य केवल मनोरंजन के लिए नहीं रचा जा सकता। बालमनोविज्ञान की आधारभूमि रहित कोई भी साहित्य विधा बच्चों के लिए उपयोगी तथा प्रभावकारी नहीं बन सकती, क्योंकि जो रचनाएँ उन्हें अच्छी नहीं लगती, उन्हें वे ग्रहण नहीं करते। अत: यह निर्विवाद सत्य है कि बालसाहित्य और बालमनोविज्ञान का अन्योन्यासिक संबंध है। बालसाहित्य में ह्रदय में चरित्र-निर्माण की ललक उत्पन्न करने की सामर्थ्य होनी चाहिए। बालकों को वैज्ञानिक सोच के साथ नैतिक मूल्यों की ओर जाग्रत करने वाला साहित्य चाहिए जो उनका चरित्र निर्माण भी कर सके तथा मानवीय मूल्यों के उन्नयन के साथ-साथ उनका मनोरंजन भी कर सके।

बाल रचनाएँ रोचक तथा ज्ञानवर्धक होने के साथ ही मनोविज्ञानपरक भी होनी चाहिए। बाल साहित्य में सामयिकता के साथ-साथ शाश्वत मूल्यों एवं संवेदनाओं का समावेश होना चाहिए। ताकि वह अपनी व्यापक उपयोगिता सिद्ध कर सके। **अज्ञेय** का अभिमत है कि ''बेशक बच्चा संसार का सर्वाधिक संवेदनशील यंत्र नहीं है, वह चेतनशील प्राणी है, अपने परिवेश का समर्थ सर्जक है। वह स्वयं स्वतंत्रचेता है, क्रियाशील है और जो कार्य अपनी अंत:प्रेरणा से करता है, वह अधिक स्थायी होता है। इन समग्र स्थितियों का अवलोकन करते हुए बाल साहित्य का सृजन होगा तो निस्संदेह वह बाल मनोविज्ञान के धरातल पर सार्थकता प्रदान करेगा।'' इसलिए यह आवश्यक है कि बाल मनोविज्ञान और बाल विज्ञान को ध्यान में रखते हुए बाल साहित्य लिखा जाए क्योंकि किसी राष्ट्र के कंकाल में प्राण का संचार करने की सामर्थ्य रखता है बालसाहित्य।

आज के वैज्ञानिक युग को देखते हुए बालकों को ऐसा बाल साहित्य चाहिए जो उनके बौद्धिक स्तर और परिवेश के अनुरूप हो, उसमें हमारी परंपरा और संस्कार तो हों साथ ही उन्हें एक नई और रचनात्मक दिशा की ओर भी ले जाए जो उनकी वैज्ञानिक जगत से जुड़ी समस्याओं तथा जिज्ञासाओं का मनौवैज्ञानिक ढ़ंग से मनोरंजनपूर्ण समाधान दे सके। **डॉ. श्यामसिंह शशि** का स्पष्ट मत है कि ''बचपन को कल्पना-लोक में विचरने के लिए परिकथाएँ भी चाहिए किंतु भूत-प्रेत या अंधविश्वास का मनोरंजन बालमन से खिलवाड़ होगा। उसी प्रकार विज्ञान कथाएँ भी लिखनी चाहिए किंतु उनमें वैज्ञानिक फार्मूले देकर बाल मस्तिष्क को बोझिल नहीं करना है, वे पाठ्य पुस्तकों के लिए हैं अथवा विषय विशेष की कुंजियों के लिए। परिकथा तथा विज्ञान कथा एक दूसरे की पूरक बनेंगी तो बाल साहित्य स्वस्थ दिशा का पथ प्रशस्त करेगा।'' (भाषा पत्रिका, मई-जून 2007, पृष्ठ 38)

प्रेमचंद की 'ईदगाह', रविन्द्रनाथ टैगोर की 'काबुलीवाला', महादेवी वर्मा की 'बारहमासा', सुभद्रा कुमारी चौहान की 'मेरा नया बचपन' - ये सब कालजयी कृतियाँ हैं जो बालमन की विभिन्न छटाएँ लिए हुए हैं। इनके अतिरिक्त अनेक दिग्गज साहित्यकारों - सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', विष्णु प्रभाकर, रामधारी सिंह 'दिनकर', हरिवंशराय बच्चन, रामकुमार वर्मा, कमलेश्वर आदि ने भी बालसाहित्य सृजन किया है। ऐसे साहित्यकार भी हुए हैं जिन्होंने बाल साहित्य को सक्षम बनाने में अपना अमूल्य योगदान दिया तथा लोकप्रियता पाई, उनमें सूर्यभानु गुप्त, दामोदर अग्रवाल, कन्हैयालाल मत्त, डॉ. श्रीप्रसाद, प्रयोग शुक्ल, बालस्वरूप राही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, राष्ट्रबंधु योगेशकुमार लल्ला, डॉ. श्यामसिंह शशि, प्रकाश मनु, लीला मजुमदार, निरंकार देव सेवक, सूर्यकुमार पाण्डे, मंगरुराम मिश्र, चंद्रपाल सिंह मयंक, रामवचन सिंह आनंद, शोभनाथ लाल इत्यादि प्रमुख हैं।

आज बाल साहित्य का सृजन प्रचुरमात्रा में हो रहा है। साहित्य की प्राय: सभी विधाओं-कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, ज्ञान-विज्ञान, पहेलियाँ इत्यादि में बाल साहित्य समृद्ध हो रहा है। हिंदी बाल साहित्य में सृजनात्मक बालसाहित्य पंचतंत्र से लेकर अभी तक काफी लिखा जा चुका है, लेकिन सूचनात्मक बालसाहित्य अर्थात् वैज्ञानिक बालसाहित्य की अभी शुरुआत है। सूचनात्मक बालसाहित्य का आधार विज्ञान है, और क्रमबद्ध ज्ञान ही विज्ञान है। इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने वाले बालकों के लिए विज्ञान प्रगति का ज्ञान अनिवार्य है।

बाल साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि उसमें ग्रामीण अंचल के बालकों को उतना महत्व नहीं दिया जा रहा है। ग्रामीण परिवेश और वहाँ के बच्चों की मानसिकता से जुड़ी रचनाएँ बहुत ही कम लिखी जा रही हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि शहर और गाँव दोनों स्तर के बच्चों को समान रूप से महत्व दिया जाए। उसी प्रकार यह भी जरूरी है कि बालसाहित्य की रचना करते समय लड़कियों की उपेक्षा न करते हुए उन पर भी केंद्रित रचनाएँ सृजित की जाएँ।

आज दूरदर्शन बाल साहित्य के लिए एक चुनौती बन गया है। डर है कि कहीं दूरदर्शन बच्चों के लिए पुस्तकों का विकल्प न बन जाए। बच्चों पर हो रहे सांस्कृतिक आक्रमणों को रोकने के लिए यह अनिवार्य है कि हम दूरदर्शन से अधिक रोचक विकल्प, जैसे - रंगीन चित्रात्मक जानकारी, रोचक शैली, सहज भाषा, उपयुक्त विषय-चयन, सशक्त कथा-तत्व आदि बाल साहित्य में करें। **श्रीधर पराडकर** का अभिमत है कि "आज सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि बाल साहित्य को बाजारवाद, उपभोक्तावाद और भौतिक वाद से मुक्त कराया जाए, ताकि बाल साहित्य भारतीय संस्कृति, संस्कार और नैतिक मूल्यों पर आधारित हो सके।" (साहित्य परिक्रमा पत्रिका अप्रैल-जून 2011, पृ.9)

आधुनिक बाल साहित्य के माध्यम से निस्संदेह बच्चों की कल्पनाओं को उड़ान भरने में हम सहायता कर रहे हैं, लेकिन साथ ही उन्हें जीवन के यथार्थ से भी परिचित कराना अनिवार्य है। उसी प्रकार बाल साहित्य में बच्चों की रुचि बढ़ाने के लिए साहित्यकारों के साथ ही माता-पिता और शिक्षकों को भी सजग होने की आवश्यकता है ताकि बच्चों को बाल साहित्य पढ़ने के लिए प्रेरणा मिले।

नामदेव महाराज मंदिर के समीप
गाडगे नगर, अमरावती-444603

आलेख

भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा और दिशा

डॉ. सुरेश उजाला

इतिहास गवाह है, प्राचीनकाल में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर ही अधिकार प्राप्त थे, परिवार में स्त्रियों का प्रतिष्ठपूर्ण स्थान था। गृहस्थी का कोई भी कार्य स्त्री की बिना सहमति के नहीं हो सकता था। पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसंधान द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि द्रविड़ सभ्यता आर्यों की सभ्यता से कहीं अधिक प्राचीन और भिन्न थी। आर्यों ने द्रविड़ों को राक्षक दानव-दस्यु-निशाचर आदि इत्यादि नामों से सम्बोधित किया है। द्रविड़ लोग उस काल के असभ्य-जंगली और बर्बर थे। लेकिन सभ्यता की दौड़ में आर्यों से काफी आगे थे। द्रविड़ों का समाज मातृक था यानि माता ही कुटुम्ब की प्रधान हुआ करती थी। ये लोग चचेरे भाई-बहनों में विवाह कर लिया करते थे। समाज में जाति-प्रथा का प्रचार इन लोगों में नहीं था। ब्राह्मण और शूद्र तत्कालीन समाज में मौजूद थे। द्रविड़ सभ्यता के पश्चात् सिन्धु घाटी की सभ्यता का प्रारम्भ होता है। सिन्धु घाटी का तात्पर्य सिन्धु नदी के दोनों किनारों पर स्थित उस प्रदेश से है जो उसके जल से सींचा जाता था अर्थात् उस प्रदेश के लोगों के सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक-धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन से है। इस काल में लोग माता देवी की अर्चना किया करते थे। इससे यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि इस काल में स्त्रियों का सम्मान बरकरार था, इन्हें सम्मान की दृष्टि से समाज में देखा जाता था। माता के रूप में स्त्री को ऊँचा स्थान प्राप्त था। बच्चों का पालन-पोषण ओर गृह-कार्यों का बन्दोबस्त स्त्री का मुख्य कर्म था। स्त्री और पुरुष दोनों समान रूप से सामाजिक-उत्सवों में सम्मिलित हुआ करते थे।

जब हम वैदिक काल की सभ्यता का अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि इस युग में भी स्त्रियों को ऊँचा व सम्मान जनक स्थान प्राप्त था। स्त्रियाँ घर की मालकिन समझी जाती थी। वह धार्मिक कार्यों में अपने पति के साथ सम्मिलित होती थी। इस काल में पर्दा-प्रथा नहीं थी। अतएव स्त्रियाँ सभी उत्सवों व पर्वों में भाग लेती थी। लेकिन नियमानुसार स्त्रियाँ स्वतन्त्र नहीं होती थी। उन्हें अपने पुरुष-सम्बन्धियों के

संरक्षण और नियंत्रण में रहना पड़ता था, पिता के न रहने पर अपने भाई के अधीन तथा शादी हो जाने के पश्चात् अपने पति के अधीन रहना पड़ता था।

विधवा हो जाने पर स्त्री अपने बेटे के अधीन हो जाती थी। इस प्रकार स्त्री को किसी रूप में पुरुष के अधीन ही जीवन यापन करना पड़ता था। लेकिन उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति पहले से अधिक खराब हो गई। इस काल में राजवंशों और सम्पन्न परिवारों में बहु-विवाह की प्रथा का प्रचलन बढ़ गया। परिवार की स्त्रियों का जीवन इस काल में अत्यधिक कलहपूर्ण हो गया। इस काल में ही कन्याओं के जन्म को दुःख का कारण समझा जाने लगा। कन्या के जन्म से लोग दुःखी होने लगे। लेकिन कन्याओं की शिक्षा पर थोड़ा बल दिया जाता था। क्योंकि इस काल की गर्गी, मैत्रेयी जैसी विदुषी स्त्रियों के नाम मिलते हैं जो वैज्ञानिक वाद-विवादों में हिस्सेदार थी। इस काल में धार्मिक अवसरों-सार्वजनिक सभाओं में स्त्रियाँ भाग ले सकती थी। बाल विवाह प्रारम्भ हो चुके थे, स्त्रियों के आचरण तथा आदर्श भी इस काल में कुछ बदले थे। इसके बाद वर्ण-व्यवस्था लागू होने पर स्त्रियों को उनके न्यायोचित अधिकारों से वंचित होना पड़ा। हिन्दू धर्म में जाति व्यवस्था के कारण स्त्रियों को नितान्त निम्नकोटि का समझा जाने लगा। अतएव इस काल में वे राजनैतिक व सामाजिक रूप से अपने महत्वपूर्ण अधिकारों से वंचित हो गईं। इस काल में अशिक्षा के कारण स्त्रियों में रुढ़िवादिता बढ़ी। जाति-प्रथा में उनका विश्वास भी अशिक्षा के कारण बढ़ा। किन्तु इस काल में भी जिन स्त्रियों को पाश्चात्य-शिक्षा मिल जाती थी, वे स्त्रियाँ बहुत ही प्रगतिशील हो जाती थीं। जाति बन्धनों की जटिलता को खत्म करने में स्त्रियाँ बढ़-चढ़ कर भाग लेती थीं। इससे जाति प्रथा की कठोरता को समाप्त करने में बल मिलता था।

महाकाव्यों के काल में स्त्रियों की दशा ठीक नहीं रही महाभारत में ऐसे वाक्य मौजूद हैं जो स्त्रियों की सभी आपत्तियों का कारण हैं 'पुत्री का जन्म एक अनर्थ की बात है' महाभारत काल में स्त्रियों का घर से निकलना, जुएं में हार जाना तिरस्कृत एवं अपमानित किये जाने के तमाम उदाहरण मौजूद हैं। कौरवों ने भरी सभा में द्रोपदी का चीर हरण कर अपमानित करने का प्रयास किया। तथापि वहाँ सभा में बड़े-बड़े महारथी धर्मधुरीण मौजूद थे। लेकिन किसी ने इस निकृष्ट कृत्य का विरोध नहीं किया। सभी चुप रहे। लक्ष्मण ने वनवास के वक्त शूर्पणखा के नाक-कान काट लिये थे। लेकिन अनार्य होते हुए भी रावन ने सीता के साथ बदसलूकी नहीं की। स्त्रियाँ इस काल में आजादी के साथ हाट-बाट में आ जा सकती थी। सती-प्रथा का भी इस काल में उल्लेख है। पाण्डु की दो पत्नियों में एक अपने पति के साथ सती हो गई थी। प्रायः विधवाओं का विवाह कर दिया जाता था। राजाओं-महाराजाओं को छोड़कर, एक से अधिक विवाह करने की किसी को अनुमति नहीं थी। धार्मिक-क्रान्ति के समय में बौद्ध संघ में स्त्रियों का प्रवेश

प्रारम्भ हो गया था। बिहारों में स्त्री पुरुष दोनों साथ-साथ रहते थे। गौतम बुद्ध ने सभी दोषों का विरोध किया और उनका समाधान कर नई संस्कृति लागू की। बुद्ध कालीन सभ्यता में बालकों की तरह बालिकाओं का भी पालन पोषण किया जाता था। संगीत और गृहकार्य में दक्ष होना स्त्री का प्रमुख गुण था। इस काल की स्त्रियाँ अपनी शादी स्वयं कर सकती थी, यानि वर चुनने का अधिकार स्त्रियों को घर में तथा समाज में सम्मान जनक दृष्टि से देखा जाता था। हालांकि पर्दा-प्रथा की जटिलता इस युग में बरकरार नहीं थी, लेकिन शील, लज्जा पुरुष के समक्ष बरकरार थी। इस युग में स्त्रियों को भिक्षुणी बनने का अधिकार था। कुछ बेबस स्त्रियाँ इस युग में गणिका अथवा वेश्या के कार्य पर भी निर्भर रही।

आहिस्ता-आहिस्ता मौर्य-कालीन समाज में स्त्रियों को उच्च सम्मान प्राप्त हुआ। इस काल में स्त्री परिवार की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी। उन्हें पर्याप्त स्वतंत्रता इस युग में प्राप्त थी। पति के गलत व्यवहार पर विवाह सम्बन्ध विच्छेद हो जाया करता था। विवाह की मर्यादा और सीमा के लिए सम्पन्न घरों में परदा-प्रथा का चलन था। स्त्रियों में इस काल में अंधविश्वास कुछ अधिक था। अर्द्ध-सभ्यता के अधीन स्त्रियों का क्रय-विक्रय भी होता था। सती प्रथा इस काल में नहीं थी। स्त्रियाँ सम्राट की संरक्षिका तैनात की जाती थी। कुछ स्त्रियाँ गुप्तचर का कार्य भी किया करती थी। गुप्त काल में वंशावलियों में पिता के नाम के साथ-साथ माता के नाम का भी उल्लेख होता था। प्रभावती गुप्ता जैसी योग्य रानियाँ राजनीति में भाग लेती थी, तथा शासन का संचालन भी किया करती थी। इस काल में पर्दे की प्रथा नहीं थी, स्त्रियाँ आज़ादी के साथ समाज में घूम-फिर सकती थी। किन्तु उच्च घरानों की स्त्रियाँ एक प्रकार का आवरण का इस्तेमाल करती थी, शायद सती प्रथा का प्रारम्भ हो चुका था। थानेश्वर काल में शिक्षा पर समुचित ध्यान था। इस काल में स्त्रियाँ गाने-बजाने और नाचने में बहुत ही प्रवीण एवं दक्ष थी। राजघरानों की स्त्रियाँ इस काल में संगिनी नहीं अपितु उपभोग की एक मात्र वस्तु समझी जाती थी। लेकिन माता के साथ श्रद्धा तथा प्रेम का व्यवहार किया जाता था। परदा प्रथा का प्रचलन उच्च घरानों में प्रचलित था।

राजपूत सभ्यता के अन्तर्गत स्त्रियों की मान-मर्यादा कायम थी। कन्या के रूप में पालन पोषण और शिक्षा का ध्यान रखा जाता था। पत्नी और माता के रूप में स्त्रियों का सम्मान किया जाता था। राजकुल की स्त्रियाँ राजनीति तथा शासन के कार्यों में भाग लेती थीं। अनेक स्त्रियों ने राजकुमारी की अल्पावस्था के रहते संरक्षिका का कार्यभार संभाला। बहुत सी स्त्रियों ने प्रान्तीय शासकों तथा गाँव की मुखिया के रूप में कार्य किया। अभी तक स्त्रियों में पर्दा-प्रथा नहीं थी। राजवंशों तथा सम्पन्न घरानों में बहु-विवाह प्रथा का प्रचलन था। निम्न वर्ग में इस काल में भी विधवा-विवाह का प्रचलन था। उच्च वर्ग के

लोगों में सती-प्रथा का चलन आरम्भ हो गया था। लेकिन उच्च वर्ग में विधवा विवाह का प्रचलन नहीं था। आचरण-भ्रष्ट स्त्रियाँ समाज में वेश्यावृत्ति का काम करती थी। देवदासी प्रथा का प्रादुर्भाव भी इसी काल की देन है। दास-वंश में रजिया का नारी होना एक बहुत बड़ी असुविधा थी। रजिया को स्त्री होने के कारण बहुत से लोग राजपद के लिये उपयुक्त नहीं मानते थे। उसके अनुशासन को मानने के लिए उद्यत न थे। लेकिन रजिया ने सभी विरोधियों का सफलतापूर्वक सामना किया, और अपने साहस-पराक्रम तथा अध्यावसाय का परिचय दिया। रजिया ने साहसपूर्ण तरीके से यह सिद्ध किया कि वह राज-पद के लिए सर्वथा योग्य एवं दक्ष है।

रजिया भारत की प्रथम और अन्तिम स्त्री सुल्ताना थी। हाँलाकि विदेशों में रजिया से पहले स्त्रियाँ सिंहासन संभाल चुकी थीं। लेकिन भारत में राजसिंहासन पर बैठने का पहला गौरव रजिया को ही जाता है। दिल्ली सन्तनत के राज-कुटुम्ब को बड़े ही सम्मान-जनक नज़रिये से देखा जाता था। हालांकि राजनीति में इसका प्रभाव नगण्य था। सुलतान की सबसे बड़ी स्त्री 'मलिकाए-जहाँ' कहलाती थी, और सुल्तान की माँ को 'खुदाबन्दे जहाँ' या 'मखदूम-ए-जहाँ' के नाम से संबोधित किया जाता था। स्त्रियों का तत्कालीन राजनीति पर बहुत कम प्रभाव पड़ा था। मुस्लिम विजय के दौरान अनेक मुस्लिम विजेताओं ने राजपूतानियों के साथ विवाह कर लिया, जिनका प्रवेश मुस्लिमराज निवास में हो गया था, इन रानियों ने हिन्दू रीति-रिवाजों तथा आचार-व्यवहार को अपने हरम में फैलाया। मुस्लमानों से मेल उत्पन्न करने का प्रयास किया। समय के साथ-साथ स्त्रियों की स्थिति में निरन्तर बदलाव आया। प्रेम, बलिदान और समर्पण की भावना स्त्रियों के लिए जहर बन गयी। जो स्त्री बड़े-बड़े अवतारों को जन्म देती थीं, उनकी सन्तानों ने ही उसे पैर की जूती बनाकर रख दिया। जो स्त्री अपने पति के जीवन काल में उसके सुख समृद्धि, इच्छा पूर्ति की साधन होती थी, वही स्त्री पति के न रहने पर उपेक्षा और घृणा की पात्र बन जाती, अच्छे कपड़े और आभूषण पहनना उसके लिए उपहास का कारण बन जाता।

स्त्रियों को इस अधोगति में पहुंचने के लिए धर्म ग्रन्थों के उल्लेख और नियम भी कम उत्तरदायी नहीं हैं। जिनके कारण भारत में स्त्रियों का आन्दोलन नहीं हो सका। जिसमें स्त्रियाँ घर की चार दिवारी में कैद होकर रह गईं। सामाजिक कुरीतियों ने स्त्रियों को इतना दीन-हीन बना दिया कि वे अपना अस्तित्व ही भूल गईं। स्त्रियों के उत्थान का काम सबसे पहले डॉ. भीमराव अम्बेड़कर ने दलितों शोषितों-अछूतों में ही प्रारम्भ किया। लेकिन बाद में स्त्रियों के उत्थान का काम दलित-शोषित-उपेक्षित समाज तक ही सीमित न रहा। डॉ. अम्बेडकर ने मालाबार भूभाग, जहाँ आदिवासी लोग निवास करते

थे, इन्हें वस्त्र पहनने सिखाये। मालाबार में स्त्रियाँ अपने गुप्तागों को पत्तों से ढ़क कर अपनी लाज बचाती थी। बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने उन्हें मानव बनने का संदेश दिया। उन्हें कपड़ों को धारण करने का तरीका बताया। बम्बई लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य तथा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में लेबर मेम्बर रहते हुए डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने स्त्रियों के उत्थान हेतु जो काम किये, उन्हें कौन विस्मृत कर सकता है। गर्भवती महिलाओं के लिए प्रसूति-अवकाश के साथ उन्हें तमाम सुविधाएं निर्गत कराई। सबसे बड़ा काम तो डा. अम्बेडकर ने यह किया कि स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार दिलाए। यह काम संविधान की धारा-14 और 15 में 'अपेक्षित' प्रावधान करके पूर्ण किया। चौदहवीं धारा के अन्तर्गत - 'भारतीय राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समानता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से, राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जायेगा।' पन्द्रहवी धारा के अन्तर्गत 'राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूल वंश जाति, लिंग, जन्म स्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।' 'हिन्दू कोड बिल' का परम उद्देश्य दोनों धाराओं के सूत्रों का भाष्य करना तथा धर्मशास्त्रों में स्त्रियों के खिलाफ मान्यताओं, रीतियों तथा नियमों को प्रभावहीन बनाकर नये प्रगतिशील समानता के नियमों का निर्माण करना था। हिन्दू कोड बिल को लेकर तमाम प्रकार के अन्तर्विरोध मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के बीच रहे। इसलिए इस बिल के पारित होने में देर हुई। डॉ. अम्बेडकर इससे बहुत दु:खी थे। उन्हें ऐसा लग रहा था कि नेहरू जानबूझ कर शिथिलता बरत रहे हैं। आगे चलकर नेहरू जी के आग्रह पर इस बिल को दो भागों में विभाजित कर दिया गया। पहले भाग पर सदन में तीन दिनों तक बहस जारी रही, लम्बे वक्तव्य होते रहे। वक्तव्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। बीस सितम्बर, वर्ष 1951 में डा. अम्बेडकर ने हिन्दू कोड बिल तथा तलाक के पक्ष में सबल तर्क प्रस्तुत किये। पच्चीस सितम्बर को यह भाग पास कर दिया गया। मंत्रिमण्डल, पार्लियामेंट तथा बाहर की खिलाफत की वजह से हिन्दू कोड बिल उस वक्त पारित न हो सका। लेकिन बाद में उसे अलग-अलग भागों में पास करके कानूनी जमा पहनाया गया। हिन्दू कोड बिल डॉ. भीमराव अम्बेडकर के हाथों पास हुआ या न पास हुआ हो, लेकिन यह पूर्णतया स्पष्ट है कि इस बिल के कारण स्त्रियाँ अपने विषय में सोचने-समझने लगीं। आज स्त्रियों में जो राजनीतिक चेतना दिखाई पड़ रही है वह इस बिल का ही प्रभाव है। अतएव स्त्री समाज की गुलामी की बेड़ियां काटने का श्रेय डॉ. अम्बेडकर को ही जाता है। आज स्त्रियाँ देश-निर्माण से सहायक सिद्ध हो रही हैं। आज स्त्रियाँ देश में नवचेतना और जागृति की मिसाल हैं। अपने कर्तव्यों का पालन स्त्रियाँ आज पूर्ण-रूपेण अधिकारों के साथ करने में समर्थ हैं। बाबा साहब समाज की प्रगति को मूल्यांकन स्त्री समाज की प्रगति से ही किया करते थे।

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक और इक्कीसवीं शताब्दी के शुरुआत की एक अत्यन्त जरूरी संकल्पना उभर कर हमारे सामने आई हैं। भूमण्डलीकरण के इस समय में प्रत्येक मानव को अपनी पहचान मिली है। भूमण्डलीकरण का अर्थ मुक्त-अर्थ व्यवस्था से है, जिसका मुख्य अंग वस्तुएँ, पूँजी, तकनीकी व श्रम का निर्बाध आदान-प्रदान है। जो सम्पूर्ण विश्व को एक गाँव में परिवर्तित कर रहा है। सैटेलाइट और कम्प्यूटर के द्वारा संचार के क्षेत्र में एक क्रान्ति सी उत्पन्न हो गई है। इन्टरनेट, आई.एस.डी., ई-मेल के द्वारा आज सारी दुनिया कुछ ही समय में किसी भी भू-भाग में अपना सम्पर्क स्थापित कर सकती है। भूमण्डलीकरण ने आज नये आयाम प्रस्तुत किये हैं, जिसकी वजह से 'वसुधैव कुटुम्कम्' की भावना हमें प्रबल होती दिखाई पड़ रही है। इस भूमण्डलीकरण ने औरत हो या आदमी सबको एक नयी पहचान दी है। जिसके नाते भारत में स्त्री जगत को भी एक नयी पहचान मिली है। उनकी स्थिति में भी भूमण्डलीकरण के कारण एक अभूतपूर्व बदलाव आया है। आज भारतीय स्त्री भी हर क्षेत्र में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रही है। भारत एक पुरुष प्रधान देश है। जहाँ पुरुषों की स्त्री के बारे में सदैव दोहरी मानसिकता रही है। एक ओर 'यत्र नारियस्तु पून्यते रमंते तत्र देवता' तो दूसरी तरफ 'शूद्र गँवार, ढोल, पशु, नारी ये सब तारड़न के अधिकारी' कहकर उत्पीड़ित किया गया है, उसे मानसिक आघात पहुँचाया गया है।

आज के वक्त का जब हम आकलन करते हैं, तो पता चलता है कि भूमण्डलीकरण ने जहाँ हर व्यक्ति की एक नयी पहचान कराई है, वहीं उसी भूमण्डीकरण की वजह से उपभोक्तावाद तथा बाजारवाद को बढ़ावा मिला है। स्त्री जगत भी इसके प्रभाव से बच नहीं पाया है। आज स्त्रियों के साथ उत्पीड़न, हिंसा, यौन-शोषण व बलात्कार दिन पर दिन बढ़े हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति ने स्त्रियों को मात्र भोग की वस्तु बनाकर रख दिया है। आज स्त्री-विमर्श के समय में स्त्रियों को निर्णायक भूमिका में होना चाहिए था, मगर टेलीविजन, केबिल टी.वी., इन्टरनेट, मीडिया ने स्त्री को केवल उत्तेजक-मोहक और भोग्य की छवि में ही प्रस्तुत किया है, उसकी वास्तविकता को नकारा है। आज महिलाएँ भ्रूण हत्या बलात्कार, दहेज हिंसा, घरेलू हिंसा आदि की शिकार हैं। चारों ओर स्त्री का शोषण आज भी जारी है। स्त्री की पहचान के स्थान पर भूमण्डलीकरण उसके बजूद के लिए खतरा उत्पन्न कर रहा है।

108, तकरोही
पं. दीनदयाल पुरम, वर्मा
इन्दिरा बाजार,
लखनऊ।

चिन्ता

मानवीयता के संरक्षण की मुहिम

वी.जी. गोपालकृष्णन

मनुष्य की भलाई को लक्ष्य करके ही धर्म का जन्म हुआ है। दुनिया में जितने भी धर्म हुए हैं उन सबके मूल में मानव प्रेम का सन्देश है। सभी धर्म ग्रन्थों की मूल भावना ही मानवीयता एवं भाईचारा है। मनुष्य प्रेम में कभी भी कहीं भी धर्म बाधा नहीं बना है। किन्तु धार्मिक बहुलतावादी भारत में आजकल धर्मांधता देश की मानवीयता पर खुला आक्रमण कर रही है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर पूरे देश में धर्मांधता का जो आतंक फैलता जा रहा है उसके मूल में फासीवादी मानसिकता ही दिखाई दे रही है। जर्मनी में एडोल्फ हिटलर ने आर्य संस्कृति के संरक्षक के रूप में देश-प्रेम, नस्ल की महिमा एवं रक्त की शुद्धता का नारा बुलन्द कर यहूदियों के उन्मूलन का षड्यंत्र रचा था। भारत में संघ परिवार हिटलर के इसी मार्ग को अपनाकर, हिन्दू राष्ट्र की स्थापना का मंत्र रटकर, हिन्दुत्व के संरक्षक का बाना ओढ़कर दूसरे धर्मों के नामोनिशान मिटाने को आमादा होकर निकल पड़ा है। 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' को देश प्रेम के पर्याय के रूप में वह प्रयुक्त कर रहा है।

धर्म निरपेक्षता को अपनाये, एक राष्ट्र में, बहुसंख्यकों के धर्म के हिसाब में, समन्वयवादी राष्ट्रीय संस्कृति को तोड़कर एकल संस्कृति को स्थापित करना एक साजिश है। दूसरे धर्मों के उन्मूलन से ही यह कार्य संभव हो सकता है। इसलिये ही इस कार्य में अपने मार्ग दर्शक हिटलर के फासीवाद को संघ परिवार ने अपना लिया है। मानवता शब्द के लिए फासीवाद में कोई स्थान नहीं है। वहाँ आक्रमण के द्वारा भय, दहशत और आतंक का वातावरण समाज में पैदा करने की प्रक्रिया चलती रहती है। धर्म की आड़ में चलने वाली सांप्रदायिकता को कुमार अंबुज ने यों उद्घाटित किया है, "जिस तरह पूँजी कई अपराधों और हिंसा की जनक होती है, उसी तरह धर्म भी।. . . इसी मायने में धर्म एक सुगठित माफिया की तरह पेश आता है। यही वजह है कि अपने को धार्मिक कहने वाले लोग, अन्य धर्मावलंबियों के साथ की गयी हिंसा, बलात्कार, कत्ल तक को जायज

ठहरा देते हैं।''[1] इस प्रकार के कार्य कलापों से पूरे समाज में आतंक का वातावरण बरकरार कर अपने लक्ष्य को साधने के लिए सवर्ण वर्ग प्रयत्नशील है। ''सवर्णवाद के दुराग्रह, जो आजादी के आंदोलन से क्षतिग्रस्त हुए थे, पूँजीवाद के उत्थान की परिस्थितियाँ पाकर फासीवादी आतंकतंत्र का रूप लेना चाहते हैं।''[2] धार्मिक कट्टरपंथिता वैचारिक वाद-विवाद के लिए तैयार नहीं होती, बल्कि वह आक्रमण के मार्ग को अपनाती है। ''फासीवादी मानसिकता केवल विचारों पर ही आक्रमण नहीं करती, व्यक्ति के अस्तित्व को भी क्षतिग्रस्त करती है।''[3] ''फासीवाद कभी भी मानवीय नहीं होता। उसके पास हर बात का उत्तर दमन, उत्पीड़न है।''[4] मानवता पर पाशविकता का आंतक बनकर ही सांप्रदायिकता उपस्थित हो जाती है। पिछले दो दशकों से यह आतंक कटु यथार्थ बनकर भारतीय समाज में विद्यमान है। समकालीन हिन्दी उपन्यासकार इस सच्चाई को अपनी रचनाओं में समग्रता से प्रस्तुत करने का प्रयास करते दिखाई दे रहे हैं।

झूठ का प्रचार, अफवाह, दंगा, मारपीट, तोड़फोड़, लूट, आगजनी, बलात्कार, हत्या, पुलिस, सेना लाठी चार्ज, आँसू गैस, गोलीबारी, विस्फोट, कर्फ्यू, ... असुरक्षा, भय, शक, आतंक का वातावरण – यह वर्तमान भारत का यथार्थ बन गया है। पूरा सामाजिक जीवन आतंकित दिखाई देता है। ये सब धर्म के नाम पर हो रहे हैं। जबकि हरेक धर्म में मानव पक्ष पर ही बल दिया गया है। प्रेम हरेक धर्म की मूल भावना है। किन्तु आज के धर्म प्रचारक जिन्होंने धर्म को सांप्रदायिक बना दिया है। प्रेम के स्थान पर घृणा का विष फैला रहे हैं। इसलिये विभिन्न धर्मावलंबियों के बीच आपसी आदर भाव नष्ट हो गया है। सहिष्णुता पर असहिष्णुता हावी हो गयी है। परिणामतः मस्जिद तोड़े जाते हैं, मन्दिर गिराये जाते हैं, गिरजाघार ध्वस्त किये जाते हैं। आराधनालयों के गिरने के साथ ही मनुष्य-मनुष्य के बीच कई दीवारें भी खड़ी हो जाती हैं- धार्मिकता की, सांप्रदायिकता की, वैमनस्य की. .. । भारत के वर्तमान संदर्भ में हिन्दुत्व के नाम पर ही यह प्रक्रिया तेज होती जा रही है। ऐसे समय में हिन्दू सांप्रदायिक कट्टरपंथी आदमी को दो खेमों में विभाजित रखना चाहता है। वह यह सवाल छोड़ देता है कि तुम किधर हो? याने हिन्दू हो या हिन्दू विरोधी? याने तीसरा कोई पक्ष ही नहीं रह गया। वर्ग विभाजित समाज में दो ही वर्ग संभव हो सकते हैं – शोषित और शोषक। तो वर्ग-संघर्ष में इनमें से किसी एक वर्ग को चुनना पड़ता है। वहाँ तीसरा एक मार्ग उपस्थित नहीं होता। जबकि अनेक धर्मों से युक्त एक समाज की स्थिति ऐसी नहीं है। इतना ही नहीं, यहाँ संविधान के अनुसार मनुष्य को धर्मनिरपेक्ष रहने का अधिकार भी प्राप्त है। याने यहाँ चुनाव के कई अवसर हैं। ऐसी हालत में मनुष्य को किसी धर्म के पक्ष या विपक्ष में मजबूरन खड़ा करने का प्रयास आतंकमय है। ऐसे संदर्भ में तीसरी जमात पर चर्चा करना इन्सानियत के लिए

खड़ा होना है। जहाँ पाशविकता और हैवानियत का आतंक होता है, वहाँ इन्सानियत को बरकरार रखने के लिए बड़ा संघर्ष करना पड़ता है। समकालीन हिन्दी उपन्यासकार इस संघर्ष में सक्रिय रूप से भाग लेते दिखाई दे रहे हैं। बाबरी मस्जिद का ध्वंस (1992) और गुजरात की सामूहिक हत्या (2002) ऐसी दो घटनाएं थी जिनमें फासीवाद का आतंकमयी रूप प्रस्तुत है जिसने भारतीय सामाजिक जीवन को संकट में डाल दिया है। इन दो सुनियोजित घटनाओं के पीछे के षड्यंत्र एवं उनसे उत्पन्न स्थितियों के विभिन्न पक्षों को परखने वाले उपन्यास हैं रवीन्द्र वर्मा का 'निन्यानवे' (1998) गीतांजलि श्री का 'हमारा शहर उस बरस' (1998), रवीन्द्र वर्मा का 'दस बरस का भँवर' (2007), और अनवर सुहैल का 'पहचान' (2009)। इन उपन्यासों के आधार पर मानवता पर सवार सांप्रदायिकता की विभीषिका को परखने का प्रयास ही यहाँ किया जा रहा है।

मानव समाज की बुनियाद प्रेम है। सामाजिक प्रगति का आधार मनुष्यता है। मनुष्य अपने जीवन काल में प्रेम और भाईचारे को बनाये रखकर, इतिहास से कुछ सीखकर, वर्तमान को बेहतर बनाकर अपने भविष्य को श्रेष्ठतम बनाना चाहता है। किसी प्रकार के भेदभाव की चिन्ता के बिना मनुष्य की भलाई का आग्रह ही मनुष्यता का लक्षण है। जबकि सांप्रदायिक दौर में ऐसे आग्रहों को दरकिनार किया जाता है। सांप्रदायिक कट्टरपंथी मनुष्य के बारे में नहीं, बल्कि धर्म, आस्था, ईश्वर और धर्म सत्ता के बारे में ही सोचता है। जहाँ देवत्व मुख्य हो जाता है वहाँ मनुष्यत्व खत्म हो जाता है। अत: धार्मिक पहचान पर बल दिया जाता है और धर्माचार प्रमुख हो जाता है। धार्मिक आस्था केंद्रित ऐसे समाज में आदमी का कर्म या व्यवहार नहीं, बल्कि उसका धर्म ही पहचान का चिह्न रह जाता है। यह अत्यंत भयानक स्थिति है। समकालीन उपन्यासकारों ने इस यथार्थ को अंकित किया है। ''हिन्दू-मुसलमान हो गई थी हर चीज, हर रंग, हर शब्द, हर सलाम-नमस्कार, अचकन-धोती, हरा पीला।''[5] पहचान का यह नया चिह्न आदमी के लिए खतरा बन जाता है। अनवर सुहैल के 'पहचान' उपन्यास के सलीम ''भाई का पहनावा और रहन-सहन गोधराकांड के बाद गुजरात में उसकी जान का दुश्मन हो गया था .. . .।''[6] जबकि दूसरी ओर यह सच्चाई भी उद्घाटित है कि ग्रामवासी और अशिक्षित ही अक्सर इस चिह्न को ढ़ोने के लिए मजबूर हैं। सलीम का भाई यूनुस मुस्लिम होकर भी, शहरवासी बनकर बच जाता है। यूनुस ने अपनी जीवन यात्रा में अन्य शहरी मुसलमान के समान ही, हिन्दू या मुसलमान पहचान न पाने के रूप में जीना सीख लिया है। बूढ़ा मौलवी साहब उससे कहता है, ''तुम मुसलमान जरूर हो, लेकिन तुम्हारा रहन-सहन एक आम हिन्दू शहरी की तरह है। इसलिए तुम हिन्दुओं के बीच खप जाते हो।''[7] और अंत में उसका यह कथन दिल दहलाने वाला है कि ''सोचता हूँ कि इस

मुल्क के उलेमा ये फ़तवा जारी कर दें कि मुसलमानों को दाढ़ी रखने की सुन्नत से छूट मिल जाए।''[8] सिखों पर वारदात होने पर मनमोहन-नीतू सिख दम्पत्तियों में नीतू को राहत का अहसास इसलिये हो रहा है कि कबीर उसका बेटा न होकर बल्लो उल्फत का बेटा है। क्योंकि ''कबीर उसका बेटा होता तो सिर पर लंबे केश होते और केश पर पगड़ी होती। इन दिनों सड़क पर पगड़ी का मतलब खतरा था। पगड़ी कोई पागल कुत्ता था जिसे लोग कभी भी मारने दौड़ सकते थे।''[9] धार्मिक बहुलतावादी समाज में जब कोई धर्म कट्टरपंथी बन जाता है तो मनुष्य को खतरनाक स्थितियों से जूझना पड़ता है।

वेश-भूषा ही नहीं, नाम भी मनुष्य की पहचान का एक अनिवार्य अंग है। किसी का नाम पुकार कर उससे मिलने या बातें करने में जो आत्मीयता होती है, वह अन्यत्र प्राप्त नहीं होगी। नाम मनुष्य की पहचान का एक जरिया है, किन्तु दंगे के माहौल में नाम भी खतरा पैदा कर सकता है। मेले में मिलते दोस्त भी आपस में नाम न बता पाने की स्थिति भयावह है- ''जोर से नाम न लीजिएगा। जब से बम फूटे हैं, यहाँ बड़े चौकन्ने हो गए हैं।''[10] 'निन्यानवे' में परिवेश का आतंकमय बन जाने का चित्रण है। जब बाबरी मस्जिद में राम मन्दिर का शिलान्यास हो जाता है, रथ-यात्राएँ शुरु होती हैं, ''जै श्रीराम'' का नारा बुलंद है, तो ''बल्लो को नये सिरे से अहसास हुआ था कि उसने एक मुसलमान लड़की से प्यार किया था और शादी की थी।''[11] बाबरी मस्जिद के ध्वंस के दिनों में बल्लो उल्फत को झांसी जाना पड़ा। रात को कानपुर स्टेशन में रेलगाड़ी से बल्लो बाहर निकलता है और वापस आते वक्त बिजली चली जाती है। वह उल्फत का नाम पुकारता है। अचानक ''बल्लो को अपनी पत्नी का नाम पुकारते हुए डर लगा। इतना अंधेरा था। अंधेरे में कुछ भी हो सकता था। दोनों को मुसलमान समझा जा सकता था।''[12] 'दस बरस का भंवर' के बाँके बिहारी को भी अपनी बहू नूरजहाँ का मुसलमान होने की याद एक दर्द के समान सताती रहती है। 1984 के सिख हत्याकांड के दौरान अपने बाल और दाढ़ी-मूँछ कटवाने के अनुभव से नूरजहाँ का पड़ौसी अमरीक सिंह, बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद के दिनों में, नूरजहाँ से कहता है कि ''नूर सुन, तू भी अपने नाम की दाढ़ी मूंछ कटा ले। नूरजहाँ की जगह नूरकुमारी ठीक रहेगा।''[13] मनुष्य जब स्वयं अपने नाम से ही डरने लगता है तो यह व्यक्त हो जाता है कि स्थिति नाजुक है। पहचान का जरिया भी मनुष्य की मौत का चिह्न बन जाना दिल दहलाने वाली स्थिति है।

दंगे के वातावरण में मनुष्य कट्टरपंथी को ही नहीं, बल्कि हरेक को शंका की दृष्टि से देखने लगता है। ''असल में शकों और सुबहों के माहौल में हम अनायास ही आपस में ही अविश्वास करने लगे थे।''[14] वह हरेक से डरने लगता है। गीतांजलि श्री ने यहाँ साधारण जनता की बात ही नहीं कही थी, बल्कि जो स्वघोषित धर्मनिरपेक्ष बुद्धि

जीवी हैं उनके बीच भी ऐसे अविश्वास का पनप जाना त्रासद है। स्थिति इतनी विकराल हो जाती है कि "हम अपने से भी, दूसरे से भी डरने लगे थे।"[15] बाहर से निडर कहते हुए भी भीतर से डर से सिहरने की अवस्था अत्यंत भीषण है। डर हर कहीं एक यथार्थ होकर उपस्थित हो जाता है। श्रुति "शरद के सवालों से, हनीफ की चुप्पी से, अपनी ही प्रतिक्रियाओं से डर रही थी।"[16] लोग शोर सुनकर डरते हैं, सन्नाटे से डरते हैं। सांप्रदायिकता से उत्पन्न डर और दहशत के वातावरण में धर्मनिरपेक्ष बना रहना भी मुश्किल हो जाता है। धर्मनिरपेक्ष लोग भी अपनी सुरक्षा का मार्ग ढूँढ निकालने को विवश हो जाते हैं – "सैक्युलर नहीं, सैक्योरल हैं हम! हम उतना ही बोलते हैं, जितने में हम सेक्योर रहें,. . . . "[17] धर्मान्धता के दौर के डर से जूझने का परिणाम क्या होगा, यह सोच ही आतंकित करने वाला है। हनीफ सोचता है कि "जब यह जूझने का दौर पूरा होगा तो क्या शरद मठ में होगा और मैं अंजुमन-ए-इस्लाम में?"[18] यह बात इतनी त्रस्त करने वाली है कि सांप्रदायिकता कैसे धर्मनिरपेक्ष आदमी पर भी बाहर से आक्रमण कर उसे भीतर से तोड़कर धार्मिक और सांप्रदायिक बना देती है।

सांप्रदायिकता भूत या प्रेत का रूप धारण कर मानव जीवन को अस्वस्थ कर रही है। भूत या प्रेत कब और कहाँ उपस्थित होगा यह उस पर विश्वास करने वाला तक बता नहीं पाता। फिर भी हर कहीं उसकी उपस्थिति मानी जाती है। इस प्रकार सांप्रदायिकता भी कब और कहाँ किस रूप में प्रत्यक्ष हो जायेगी यह बताना मुश्किल है। वर्तमान हिन्दुत्ववाद के उल्फत, नीतू, रतन आदि ऐसे ही भूत-प्रेत से आतंकित पात्र हैं। सिद्दीकी को अपने पर आक्रमण करने वाला युवक भूत जैसा ही दिखाई देता है।

बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद दंगे की संभावना से आंतकित होकर, अपने को बचाने के लिए सिख-मुसलमान भी हिन्दुओं के जैसे दिये जलाने को मजबूर हो जाते हैं। (दस बरस का भँवर)। कर्फ्यू लगाने की चेतावनी, शटर गिराने की आवाज, गाड़ियों की तेजी, हलचल, गाड़ियों का सायरन आदि से तनाव संघर्ष और असुरक्षा की स्थिति पैदा हो जाती है। दूसरी ओर मारुति में दंगे का कैसेट बजाकर (निन्यानवे) या बच्चे के रोने का टेप लगाकर या हॉर्न रखकर गलियों में आतंक का माहौल निर्मित करना (हमारा शहर उस बरस) भी कट्टरपंथियों का खेल है। आगे चलकर, दंगे के दिनों में, पानी में जहर, मिलाने की अफवाह से दहशत सारी सीमा पार कर लेती है। हिन्दू कट्टरपंथियों के ऐसे अमानवीय तरीके से सिर्फ मुसलमान ही नहीं, हिन्दू भी नाली का पानी पी नहीं पाता। टंकियों का पानी शहर की सड़कों से नदी बनकर बह रहा है। किन्तु लोग प्यासे हैं। पानी के रहते हुए भी प्यासा रहने को मजबूर एक जनता – जिसमें हिन्दू भी हैं, मुसलमान भी हैं और दूसरे धर्मावलम्बी भी – की यातनाएँ राष्ट्रवादियों की समझ से परे हैं।

सांप्रदायिक दंगों में नृशंसता चरम सीमा पर पहुंच जाती है। लूट, आगजनी, बलात्कार और हत्या का एक लम्बा दौर चलता रहता है। हिन्दू दंगाईयों के सामने माँ, बहन, पत्नी, प्रेमिका कोई भी नहीं रह जाती, रह जाती है सिर्फ औरत, और वह भी मुसलमान औरत! उस पर अत्याचार करना उनका हक रह जाता है। उसका क्रूर सामूहिक बलात्कार कर उसकी हत्या की जाती है या उसे जिन्दा जला दिया जाता है। माँ की उम्रवाली औरत को, पाँव पकड़कर विनती पर भी, वे छोड़ते नहीं।[19] 2002 गुजरात के नरोड़ा-पाटिया में हुए हत्याकांड की तुलना रवीन्द्र वर्मा ने जालियाँवाला काँड से की है– ''नरोड़ा-पाटिया'' में आदमी को आदमी की तरह जिन्दा जलाया गया, औरतों को औरतों की तरह रेप किया गया और बच्चों को बच्चो की तरह हवा में उछालकर संगीन पर छेद किया गया।[20] गर्भवती स्त्री का सार्वजनिक सामूहिक बलात्कार और उसके अजन्मा बच्चे को संगीन की नोक पर धारण करने की क्रूर हरकत 'पाशविकता', 'हैवानियत' जैसे शब्दों से ध्वनित अर्थ से भी परे है। इसी दृश्य को माध्यम एक्टिविज़म के नाम पर लाइव कवरेज करने वाली टी.वी. की क्रूर मानसिकता पर 'पहचान' उपन्यास प्रश्न चिह्न लगाता है।[21]

रवीन्द्र वर्मा सांप्रदायिकता को एक बीमारी - शिज़ोफ्रेनिया - घोषित करते हैं। इस बीमारी का शिकार हुआ व्यक्ति अपने को काबू में रखने में असमर्थ हो जाता है और उसे पता तक नहीं होता कि वह क्या कर रहा है। ऐसी स्थिति में दंगे में शामिल रामकुमार अपनी प्रेमिका सलमा का बलात्कार करेगा, उसे जिन्दा जलायेगा।[22] उसे इस पर कोई दुःख या पश्चाताप नहीं होगा। उपन्यासकार यह व्यक्त कर रहे हैं कि मुसलमानों की बर्बर हत्या करने वाली हिन्दू राष्ट्रवादी ताकतें, असल में, शिज़ोफ्रेनिया के शिकार हैं, जिनमें मानवता बची नहीं है। ऐसे अमानवीय दौर में इन्सान कहीं नहीं रह जाता, रह जाता है दानव। धार्मिक माहौल में सब कुछ धर्माधारित हो जाता है। ''इन्सान कहाँ बचे थे ऐसे माहौल में। इन्सान नहीं, प्रतीक बन चुके थे सब, एक न एक मुहिम के और उनका मरना जीना कुछ नहीं, बस उस मुहिम का मरना या जीना रह गया था।''[23] मनुष्य के ऊपर जहाँ धर्म की प्रतिष्ठा होती है वहाँ मनुष्यता की तलाश करना व्यर्थ है। इतना ही नहीं, कट्टरपंथी धर्म को सुधारने की बात भी नाहक है। धर्म की बर्बरता को देखकर ही कुमार अंबुज ने लिखा है कि '' .. . धर्म में परिवर्तन या सुधार करने की बात बेमानी है, ढोंग है, नासमझी है। धर्म का निषेध ही किया जाना चाहिए। यह दृष्टि 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' और 'नागरिक चेतना' के रूप में उपलब्ध हो सकती है।''[24] 'हमारा शहर उस बरस' के हनीफ का कथन इसका समर्थन करता है, ''जो धर्म गैर इन्साफी करे, उसे ही मैं नकारता हूँ. . . '' ददृदू इस विचार को एक कदम आगे रखकर धर्म से असहमति

प्रकट करने की बात प्रस्तुत करता है। दद्दू का मानना है कि "अरे, बहुत डराती है सहमति, मशीन बनाती है और असहमति इन्सान!"[25] समकालीन उपन्यास यह सन्देश देता है कि सांप्रदायिकता फासीवाद से मुक्त होना है तो उससे टकराना ही पड़ेगा। समझौते का मार्ग सांप्रदायिकता को ताकत ही प्रदान करेगा। वैचारिक संवाद के ज़रिए उसका मुकाबला करना है। सांप्रदायिक ताकतें अक्सर संवाद से कतराती है और संवाद करने वालों पर आक्रमण करती है। इस प्रकार वे सबको चुपकर अपने क्रिया-कलापों पर समाज की अनुमति का मुहर लगाना चाहती है। दमन और उत्पीड़न को वे हथियार के रूप में इस्तेमाल कर समाज में, खासकर विरोधी धर्मों में डर, दहशत और आंतक की मानसिकता पैदा कर उसे भीतर से तोड़ने की साजिश रचती हैं। अपनी अमानवीय आक्रामकता से वे मनुष्य को चुप करना चाहती हैं। इस प्रकार डर से उत्पन्न चुप्पी को भी अपने कार्य-कलापों के लिए सहमति घोषित करने वालों के खिलाफ असहमति के संवाद को प्रतिरोध के रूप में खड़े करने की बात तार्किक है। समकालीन उपन्यासकार अपना दायित्व निभाते हुए अपनी रचनाओं के ज़रिए, धर्मनिरपेक्षता के लिए, संवादात्मकता का एक गढ़ निर्मित करने में सक्रिय रूप से संलग्न दिखाई देते हैं। इस दृष्टि से हर एक उपन्यास की अपनी महत्ता है। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि समकालीन उपन्यासकार संवादात्मकता के जोखिम भरे रचना-कर्म द्वारा फासीवादी आतंक के खिलाफ मानवता का प्रतिरोध खड़ा करने का प्रयास कर रहे हैं।

सांप्रदायिक वैमनस्य के खिलाफ के संघर्ष के उपन्यासकारों ने पुराने और वर्तमान ग्रामीण जीवन के भाईचारे को और आपसी मित्रता को भी उजागर किया है। इस यथार्थ की ओर भी रचनाकारों ने ध्यान खींचा है कि साम्प्रदायिकता का असली लक्ष्य राजनीतिक सत्ता हासिल कर सवर्णवादी शासन स्थापित करना है। इस प्रकार सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर सांप्रदायिक फासीवाद का जो आंतक फैला रहा है, उसी के सभी पक्षों का भंड़ाफोड़ करने में उपन्यासकारों ने विशेष सजगता रखी है। भय, आतंक और शंक के माहौल में भी मानव प्रेम पर रचनाकार आस्था रखते हैं, और इसी के बल पर सांप्रदायिक फासीवाद के खिलाफ के संघर्ष में वे रचनारत हैं।

संदर्भ :

1. कुमार अंबुज, प्रगतिशील वसुधा-78, पृ. 76
2. कृष्ण कुमार, विचार का डर, पृ. 29
3. डॉ. राकेश कुमार, पल प्रतिपल, अप्रैल-जून 2002, पृ. 126
4. वही, पृ. 133

5. गीतांजलि श्री, हमारा शहर उस बरस, पृ. 172-173
6. अनवर सुहैल, पहचान, पृ. 114
7. वही, पृ. 121
8. वही, पृ. 121
9. रवीन्द्र वर्मा, निन्यानवे, पृ. 164
10. गीतांजलि श्री, हमारा शहर उस बरस, पृ. 137
11. रवीन्द्र वर्मा, निन्यानवे, पृ. 189
12. वही, पृ.194
13. रवीन्द्र वर्मा, दस बरस का भँवर, पृ. 59
14. हमारा शहर उस बरस, पृ. 172
15. वही, पृ. 309
16. वही, पृ. 309
17. वही, पृ. 315-316
18. वही, पृ. 321
19. वही, पृ. 223
20. दस बरस का भँवर, पृ. 179
21. पहचान, पृ. 118
22. दस बरस का भँवर, पृ. 178
23. हमारा शहर उस बरस, पृ. 340
24. कुमार अंबुज, प्रगतिशील वसुधा-78, पृ. 77
25. हमारा शहर उस बरस, पृ. 344

ऐसोशिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्व विद्यालय
कालटी -683574
केरल

प्रेम न बाड़ी ऊपजे

सुरेश पंडित

प्रेम न बाड़ी में उपजता है और न हाट बाजार में बिकता है। वह तो दिल में उगता है और अपने लक्षित पात्र के प्रति इस कदर समर्पित होता है कि अपना स्वत्त्व तक उसमें विलीन करने से नहीं सकुचाता। कोई इसे ईश्वर प्रदत्त मानता है तो कोई कहता है कि वह मनुष्य की खोज है। युगों के अन्तराल में उसका क्रमश: विकास हुआ है। जब जब सभ्यता ने करवट बदली है तब तब वह एक नये अर्थ में प्रकट हुआ है। मान्यता यह भी है कि वह स्त्री पुरुष के शक्ति समीकरण में आने वाले उतार चढ़ावों का इतिहास है। वह जहां दो व्यक्तियों के एकाकार होने का एक उत्कट उछाह है वहीं दोनों के बीच की निजी विशिष्टतायें उन्हें एक दूसरे से अलग व स्वतंत्र बनाने के लिये कोशिश में भी लगी होती हैं। बहरहाल वह एक ऐसा जन्मजात भाव है जो आजीवन साथ साथ चलता है। शुरुआत शिशु में माँ के प्रति लगाव से होती है। आयु या समय प्रेम के पात्रों को बदलते रह सकते हैं। उसे पूरी तरह खारिज नहीं कर सकते, विपरीत लिंगी तो उसे आकर्षित करते ही हैं, समलिंगियों के प्रति भी उसे उमड़ता हुआ देखा जा सकता है। लोग पशुपक्षियों से भी प्रेम करते हैं और वे भी उसका उतनी ही प्रगाढ़ता के साथ प्रतिदान देते पाये जाते हैं। वे ईश्वर, धर्म, मातृभूमि और सिद्धान्त जैसे अमूर्त संप्रत्ययों से भी इतना प्यार करने लगते हैं कि उनके रेस्पोंस के बिना भी उन पर अपनी जान न्योछावर करने के लिये उतारू हो जाते हैं। गूंगे के गुड़ की तरह प्रेम को अनुभव किया जा सकता है। परिभाषित नहीं किया जा सकता।

सदियों से उसकी महिमा सभी धर्मोपदेशक, राष्ट्रभक्त, समाज सुधारक व साहित्य सर्जक विभिन्न प्रसंगों में गाते रहे हैं और लोगों को भी अपने पूर्वजों की प्रेम कहानियां सुनना, पढ़ना लुभाता रहा है। फिर भी आश्चर्य है वह अभिनन्दनीय भाव पता नहीं क्यों समाज के अधिकतर लोगों को दूर से ही प्रणम्य लगता है। ऐसा नहीं है कि आज वे ईश्वर, राष्ट्र, धर्म व सिद्धान्त के लिये शहादत देने वालों के प्रति सम्मान नहीं रखते या प्रेम पुजारियों के जीवन की सराहना नहीं करते। लेकिन मन ही मन यह जरूर चाहते हैं कि इस तरह की शहादत व प्रेम का सौभाग्य दूसरों को मिलता रहे उन्हें नहीं।

यों प्रेम विवाह का आकर्षण इतना जबरदस्त व अदम्य है कि पहले से विवाहित व संतति सम्पन्न लोगों को भी यदि फिर से विवाह करने का अवसर मिले तो वे अपने प्रेमपात्र से ही विवाह करना चाहेंगे लेकिन जब उनके ही बेटे बेटी ऐसा विवाह कर घर आते हैं तो उन्हें लगता है जैसे वे उनके घर परिवार की इज्जत को सरेआम लुटाकर आये हैं। वे ही बेटे बेटी, जिनके लिये माता-पिता कल तक सब कुछ बलिदान करने के लिये तत्पर थे, आज उन्हें घर से निकालने, उत्तराधिकार से वंचित करने तथा हमेशा के लिये सारे रिश्ते तोड़ने के लिये तैयार दिखाई देते हैं। सभ्यता की नई करवट ने प्रेम के जिस नये रूप को सामने रखा है उसमें ऐसे विवाहित युवा सन्तानों की हत्या तक होना एक सामान्य घटना बनता जा रहा है। आश्चर्य है प्रेम की अकथ कहानी को चाव से सुनता , सुनाता समाज उसके इस उपसंहार को इस तरह बिना किसी उद्वेग के देख रहा है। जैसे ऐसा होना कोई अनहोनी न हो।

ऐसा लगता है 'लव' का समाज से रिश्ता 'लव एंड हेट' का है। वह स्त्री पुरुष के बीच हेने वाले प्यार को नैसर्गिक होने के कारण अच्छा भी मानता है। लेकिन उसकी स्वच्छन्द प्रकृति को वह नापसन्द भी करता है। स्वच्छन्द प्रकृति से तात्पर्य यह है कि वह जाति, धर्म, वर्ण, आयु, देश, काल, हैसियत अर्थात् कुछ नहीं देखता बस हो जाता है। भला यह भी कोई बात हुई। उसे सगोत्र, विजातीय, विधार्मिक, बेमेल और मर्यादाओं की अवहेलना करने वाले वैवाहिक सम्बन्ध किसी कीमत पर मंजूर नहीं हो सकते। चाहे उनका आधार कितना भी पवित्र प्रेम ही क्यों न हो। समाज और प्यार के बीच चली आने वाली यह असहमति ही द्वन्द्व पैदा करती है और इसी के परिणाम कभी कभी मरणान्तक होते हैं। चूंकि ऐसा करने पर परिवार की इज्जत पर बट्टा लगता है, समाज की नजरों में उसकी स्थिति अपमानजनक हो जाती है, इसलिये उसका प्रतिशोध वह प्रेमविवाहित जोड़े को जीवनमुक्त करके या उससे सदा के लिये सम्बन्ध विच्छेद करके लेता है। इसी को 'ऑनर किलिंग' कहा जाता है।

आइये हाल ही में हुई इस तरह की एक घटना पर जरा नजर डालें। हरियाणा राज्य के रोहतक जिले के कलानौर ब्लॉक में आने वाले एक गांव घरनावती के रहने वाले धर्मेन्दर बराक (23) और निधि बराक (20) की सितम्बर 17 को सरेआम हत्या कर दी जाती है। होता यह है कि धर्मेन्दर आईटीआई रोहतक में एक व्यावसायिक शिक्षण ले रहा है और निधि फाइन आर्ट्स का एक कोर्स कर रही है। दोनों एक ही गांव के रहने वाले हैं और दोनों की जाति और गोत्र भी एक ही हैं। तीन वर्षों से उनका रोमांस चल रहा है। घटना से एक दिन पहले अर्थात् 16 सितम्बर को दोनों योजनानुसार घर से भागते हैं और कोर्ट में जाकर शादी कर लेते हैं। निधि के घर वाले अपने सूत्रों से सारी जानकारी प्राप्त कर लेते हैं और बेटी को आश्वासन देते हैं कि वे उसके लिये उससे कुछ नहीं कहेंगे। वह घर लौट आये। गांव में विधिविधान के साथ उसकी शादी धर्मेन्दर के साथ

ही कर दी जायेगी। अपने घर वालों की बात पर विश्वास कर वह धर्मेन्दर के साथ उसी कार में लौट आती है जो उसे लाने के लिये भेजी गई थी। आते ही निधि को सब गांव वालों के सामने जीवित जला दिया जाता है और धर्मेन्दर को पहले बड़ी बेहरमी से हाथ पैर तोड़े जाते हैं, चाकुओं से गोदा जाता है और फिर सिर काट कर उसके घर के सामने गाड़ दिया जाता है। घटना को होते सारे गांव वाले देखते रहते हैं लेकिन न कोई विरोध करता है और न पुलिस को सूचना देता है। खास बात यह कि निधि को आग के हवाले करने में उसकी माँ रीता की भूमिका अहम होती है। गांव के सभी लोगों का कहना यही है कि ऐसे बेइज्जती करवाने वाले काम की यही सजा होनी चाहिए। ज्ञात हुआ है कि धर्मेन्दर के घर वालों की माली हालत कोई खास अच्छी नहीं है जबकि निधि के पिता बिल्लू का डॉग-ब्रीडिंग का बिजनैस दिल्ली के आर के पुरम में है। अर्थात् वह परिवार काफी सम्पन्न है। लेकिन इस दुखद घटना का मूल कारण आर्थिक गैर बराबरी उतना नहीं है जितना एक जाति और एक गोत्र में शादी करने का है। जाहिर है इस सारे प्रकरण में दोनों के बीच चल रहे प्रेम प्रसंग का कोई महत्व नहीं होता।

ध्यान देने लायक तथ्य यह है कि पुराने पंजाब से अलग होने के बाद बना हरियाणा राज्य देश के विकसित राज्यों में गिना जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में इसने काफी प्रगति की है और कृषि उत्पादन में इसका योगदान उल्लेखनीय रहा है। फिर भी जाति और गोत्र के प्रति यहां के निवासियों का लगाव इतना विकट है कि उसके लिये कभी भी कुछ भी करने को तैयार रहते हैं। जातीय भेदभाव के चलते दलितों और सवर्णों में अक्सर मुठभेड़ें होती रहती हैं, जिनका उल्लेख मीडिया की सुर्खी बनता रहता है। आश्चर्य है दलित समुदाय वैसे तो सवर्णों की दादागीरी का मुकाबला करने में कभी कमजोरी नहीं दिखाता, लेनिक जाति और गोत्र के लिये कट्टर लगाव के मामले में वह भी उनसे पीछे नहीं है। उसके लिये भी सजातीय, सगोत्र विवाह इज्जत को चुनौती देने का एक कारक बन गया है। मन ही मन वे भी सवर्णों की तरह बनना चाहते हैं। इसलिये उनकी गलत बातों की नकल करने से भी उन्हें गुरेज नहीं होता। मुश्किल से एक हफ्ता गुजरता है कि उसी राज्य के पानीपत जिले के बापोली गांव में 23 सितम्बर को उसी तरह की घटना की पुनरावृत्ति होती है। इस बार एक दलित परिवार अपनी बेटी की हत्या इसलिये कर देता है क्योंकि वह उसी गांव के लड़के के साथ भाग जाती है। जो उसी जाति का है। दलित समुदाय को यह स्वैच्छिक गतिविधि पसन्द नहीं आती। सजा देने के लिये लड़की को मार कर जला दिया जाता है। होता यूं है कि वह लड़की उस लड़के के साथ दस दिन पहले भाग जाती है। उसका परिवार जैसे तैसे बहला फुसलाकर उसे वापिस घर ले आता है। दो दिन उससे कुछ नहीं कहा जाता लेकिन रविवार की रात को उसका पिता सत्यनारायण अपने परिवार के अन्य सदस्यों की सहायता से उसे मार डालता है और सबूत मिटाने के लिये वह यमुना किनारे ले जाकर जला देता है। अफसोस इस

बात का है कि निर्दयी कृत्य में बापोली पुलिस स्टेशन का एक ए एस आई रवीन्दर भी उनका साथ देता है। अपनी जाति के लिये उसकी प्रतिबद्धता उसे अपनी नौकरी से जुड़े कर्त्तव्य से भी अधिक जरूरी लगती है।

ये दो घटनायें तो एक सप्ताह की अवधि में प्रकाश में आई हैं और एक जैसी हैं। इसलिये इन्हें यहां उल्लिखित किया गया है लेकिन सच्चाई यह है कि रोज ही देश के किसी न किसी कोने में इनकी आवृत्ति होती रहती है और अब इनकी खबर न लोगों के मन में आक्रोश पैदा करती है और न उन्हें व्यथित करती है। हाँ, हर जगह या हर मामले में सजातीय व सगोत्र सम्बन्ध ही इनके कारण नहीं होते। कहीं आर्थिक गैरबराबरी, कहीं जातीय या धार्मिक भेदभाव, कहीं सामाजिक हैसियत और कहीं शैक्षिक या आयु सम्बन्धी असमानतायें आदि के कारण इस तरह के रिश्तों का विरोध होता रहता है। लेकिन लगता है असली झगड़े की जड़ वह प्रेम या प्यार ही है जो प्रेमी-प्रेमिका को इतना साहस दे देता है कि वे माता पिता व परिवार के अनुशासन और समाज के रिवाज के विरुद्ध विद्रोह करने पर आमादा हो जाते हैं। माता-पिता, परिवार व समाज प्यार की बदौलत आई इस स्वतंत्रता को अपनी प्रभुता के लिये चुनौती मानते हैं। उन्हें लगता है कि अनेकों कष्ट उठाकर उनकी सन्तानों के लिये की गई मेहनत को यह कल पैदा हुआ प्यार, जिसे वे सैक्स की भूख मात्र मानते हैं, निरर्थक किये दे रहा है। उधर वयस्क सन्तानों को लगता है कि अपना जीवन साथी चुनने का उन्हें अधिकार होना चाहिए। अन्य किसी का हस्तक्षेप उन्हें स्वीकार्य नहीं हो सकता। अभिभावकों की इस बारे में आपत्ति यह है कि विवाह कोई निजी मामला नहीं है। उसमें दो परिवार तो प्रत्यक्ष और अन्य परिचित, मित्र, सगे सम्बन्धी एक दूसरे से जुड़ते हैं। इसलिये उसमें उनका भी दखल होना चाहिए। पहले कम उम्र में शादियां हो जाने के कारण अभिभावकों की अधीनता व अनुशासन युवक-युवती स्वीकार कर लेते थे पर अब हालात बदल गये हैं। परेशानी यह भी है कि युवा पीढ़ी जितनी तेजी से मीडिया तथा अन्य साधनों से जानकारियां जुटाकर पुरानी आचार संहिता की अवहेलना करने और नये ज्ञान व आधुनिकता बोध से नये सामाजिक मूल्य अपना रही है उतनी तेजी से अभिभावक अपनी मानसिकता नहीं बदल पा रहे हैं, उनके साथ नहीं चल पा रहे हैं। ऐसी स्थिति में इस द्वन्द्व के कम होने के नहीं बढ़ने के आसार ही अधिक दिखाई दे रहे हैं।

हैरानी की बात यह है कि प्रेम की इतनी दुखान्तकियों को सामने घटता देखकर भी नौजवान पीढ़ी हतोत्साहित नहीं है। प्यार का पारावार फैलता ही जा रहा है। सांस्कृतिक परम्परायें सामाजिक आचार संहितायें, बुजुर्गों के रोबदाब और धार्मिक कट्टरतायें सब मिलकर भी इस तीव्र झंझावात को रोकने में सफल नहीं हो रहे हैं। वेलन्टाइन डे के विरोध से इस दिन की लोकप्रियता बढ़ी है। डांडिया नृत्य पर इसलिये निगरानी कड़ी करने के फरमान कि इनमें मुस्लिम युवक घुस जाते हैं और हिन्दू लडकियों को सम्मोहित

कर उन्हें अपने प्रेमजाल में फंसा लेते हैं, बेकार साबित हो रहे हैं। इसी तरह 'लव जेहाद' का जो हव्वा खड़ा किया जा रहा है उसका भी कोई असर युवा पीढ़ी पर पड़ता दिखाई नहीं दे रहा है। लगता है जैसे जैसे प्यार के जुनून को रोकने की कोशिश हो रही है वैसे वैसे यह फैलता जा रहा है। न्यायालयों के फैसले अक्सर इसके हक में आते हैं। उच्च शिक्षण की संस्थायें भी अब यह मानने लगी है कि इसे रोका नहीं जा सकता। इसीलिये उन्होंने इसे व्यवस्थित और सर्वलोकग्राह्य बनाने की कोशिश शुरू कर दी हैं।

हाल ही में खबर आई है कि कोलकाता की प्रेजिडेंसी यूनिवर्सिटी, जो कुछ साल पहले तक एक कॉलेज के रूप में बंगाल ही नहीं पूरे देश में अपनी शैक्षिक उपलब्धियों के लिये विख्यात था और जिसमें सैकड़ों राष्ट्रीय ख्याति अर्जित करने वाली हस्तियां पढ़/पढ़ा चुकी थी, अब युवा अध्येताओं के लिये एक नई व अनोखी पहल शुरू होने वाली है। यह पहल है प्यार को एक वैकल्पिक विषय के बतौर पढ़ाने की। अधिकतर लोग इस खबर से बेहद उत्तेजित व उत्साहित हैं तो कुछ को यह कदम अच्छा नहीं लग रहा है। उनका कहना है कि इसके बारे में समाजशास्त्र के कोर्स में काफी कुछ पढ़ा दिया जाता है फिर उसे अलग से पढ़ाने की क्या जरूरत है। यूनिवर्सिटी 50 नम्बर वाले इस कोर्स को अन्डर ग्रेजुएट स्तर के प्रथम वर्ष के छात्रों के लिये आगामी 2014 के जनवरी माह से शुरू करने जा रही है। यह उनके अन्तर अनुशासनिक अध्ययन के सामान्य शिक्षा कार्यक्रम का एक भाग होगा।

इसमें सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से देशव्यापी पृष्ठभूमि में प्रेम की अभिव्यक्ति की विधाओं और जाति एवं संस्कृति के साथ प्यार के सम्बन्धों के बारे में जानकारी दी जायेगी। छात्रों को इसमें रोमांटिक तथा आध्यात्मिक कविता और उसके सामाजिक सन्दर्भों का परिचय मिलेगा। इसका उद्देश्य प्यार की जीवन में उपयोगिता को स्थापित करना है। क्योंकि यही वह उम्र है जिसमें इसके सही अर्थ अैर इसकी उपादेयताओं को जानना सबसे ज्यादा जरूरी है। इसमें यौनिकता और यौन हिंसा की जानकारी भी शामिल रहेगी। इसमें विषमलिंगी के साथ समलिंगी प्यार पर भी प्रकाश डाला जायेगा। क्योंकि इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी ग्रन्थों में इस तरह के प्यार के उदाहरण मिलते हैं। तात्पर्य यह कि इसमें प्रेम सम्बन्धी सभी जानकारियां होंगी। लेकिन शिक्षा पूरी तरह अकादमिक तरीके से दी जायेगी। इसमें छात्र प्रेम सम्बन्धों की विभिन्नताओं, जटिलताओं और संवेदनशीलताओं को समझने की योग्यताओं को प्राप्त कर सकेंगे।

अब तक प्रेम की नैसर्गिकता और शुद्धता उसे सांसारिक लोभ मोह से बचाये हुए थी लेकिन अब वह बाजार की नजरों में चढ़ गया है। वह जान गया है कि इसके उत्पादन और विक्रय में लाभ की अकूत संभावनायें हैं। देखते हैं भविष्य में प्रेम का स्वरूप क्या बनता है।

383 स्कीम नं. 2, लाजपत नगर,
अलवर - 301001, मो. 8508725639

भाषान्तर

श्रमिकों का कवि खड़ा हूँ

कुन्दन माली

आधुनिक उड़िया कविता में नवप्रवर्तक के रूप में ख्यातिप्राप्त रचनाकार सच्चिदानन्द राउतराय का जन्म 1916 में उड़िसा के खुर्दा जिले में हुआ। सार्वजनिक जीवन के तमाम क्षेत्रों में सक्रिय रहने वाले सची राउतराय ने देश के स्वाधीनता संग्राम के दौरान कई बार जेल यात्रा की। सोलह बरस की उम्र में ही उनका पहला काव्य-संग्रह 'पाथेय' 1932 में प्रकाशित हुआ। अब तक उनके कुल 18 काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त साहित्य की अन्य विधाओं में भी उनकी दस पुस्तकें प्रकाशित हैं। 'पाथेय' तथा 'पाण्डुलिपि' के जरिये उड़िया साहित्य के क्षेत्र में नवभाव-बोध तथा नवीन काव्य प्रवृत्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ। 'कविता: 1962' में इस नवीन काव्य प्रवृत्ति को और अधिक विस्तार तथा व्यापकता प्राप्त हुई। इसका प्रमाण यह है कि बिम्ब योजना में कुशल सची राउतराय वर्ण, ध्वनि तथा आकृतियों पर आधारित विविध बिम्बों का प्रयोग करते रहे हैं। उन्होंने अपनी काव्यरचना की शुरुआत से ही मुक्त, निर्बाध एवं लचीले छन्द का विकास किया है। उनकी मान्यता है कि कविता को तमाम अलंकरण तथा संगीत प्रलोभनों का त्याग करके कवितावीन शुद्ध कविता के रूप में ही अपनी स्वभाविक गरिमा द्वारा पाठक के मनोजगत पर प्रभाव डालना चाहिए। उनका काव्य जगत पदार्थ से लेकर आत्मा तक विस्तारित है।

1986 में ज्ञानपीठ पुरस्कार के अतिरिक्त यथा समय साहित्य अकादेमी पुरस्कार, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार तथा पद्मश्री से अलंकृत सची राउतराय ने विदेशों में कई बार भारतीय साहित्य प्रतिनिधिमंडल के सदस्य के तौर पर शिरकत की है। उनकी कविता अपने मूल सरोकारों में क्षरणशील सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध मानव-अधिकारों का एक आक्रोशी घोषणा पत्र है: *'मैं श्रमिकों का कवि खड़ा हूँ/ लिये हाथ में कलम हथियार की तरह / स्वप्न देखता उस दिन का / जग मनुष्य लौटेगा बलिवेदी से / जागेगा स्वतंत्रता की भोर में / और एक नया लाल सूरज / तथा मेरे कवि की कलम / करेंगे हस्ताक्षर / मनुष्य-मनुष्य के लिये के- अधिकार पत्र पर।'* बकौल सीताकांत महापात्र

'सची राउतराय 1947 के आसपास निनादित होने वाले आधुनिक कविता के वाद्यवृंद के सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्वर हैं। उन्होंने विचारों और भावों को व्यवस्थित करने की दुर्लभ क्षमता प्रदर्शित करने वाली कतिपय उत्कृष्ट अधिमानसिक कविताएं भी रची हैं। इस प्रकार उनकी कविता चार दशकों की आधुनिक उड़िया कविता में फैली हुई हैं और वह इसके महत्वपूर्ण तथा प्रवर्तक स्वरों में रहे हैं। उनके उल्लेखनीय काव्य-संग्रहों में 'पांडुलिपि (1947)', 'स्वगत (1958)', ' कविता-1962', 'कविता-1969', 'कविता-1971', तथा 'कविता-1974' का समावेश होता है। इन संग्रहों में समाविष्ट कविताओं में रोमानी संस्पर्श तथा प्रगतिशील विचार धारा के तत्त्वों का समन्वय मिलता है तो नवीनता का आग्रह भी यहाँ देखा जा सकता है।

समकालीन उड़िया कविता को गहराई से प्रभावित करने वाले सची राउतराय के काव्यकर्म को रेखांकित करने के क्रम में सीताकांत महापात्र लिखते हैं 'निःसन्देह 'पांडुलिपि' ने इसमें निश्चित रूप में नई विषय वस्तु जोड़ी। भाषा रोमानी होते हुए भी एक नये युग का सूत्रपात हुआ। तमाम राजनैतिक अतिशयता और लम्बी चौड़ी डींगों, घोषणाओं और भाषण बाजी के बावजूद 'पांडुलिपि' की 'प्रतिमा नायक' और 'चौथे दशक के पार' जैसी कविताओं में विषयवस्तु की आधुनिकता प्रतिष्ठापित हुई। राउतराय ने विविध प्रकार के काव्य शिल्पों और प्रक्रियाओं में प्रयोग किये हैं। प्रारम्भ में वह रोमानी क्रांतिकारी रहे। बाद में उनकी कविता में समकालीन परिवेश में व्यक्ति के विकृत होने और उसके हनन की गहरी अनुभूति है। साथ ही समय बीतने की कष्टकारी चेतना से उपजा मनस्ताप भी है। 'नदी का एक दरवाजा' जैसी कविता में नदी अकस्मात् गृहोन्मुख समय की छाया बन जाती है या फिर 'या देवी' जैसी कविता में जिसमें दुर्गा *सामान्य दृष्टि से, / हत्या करती है प्रेम के कक्ष में / गुप्त सीढ़ी पर अथवा विस्तृत मैदान में / वह तो देवी है, उपासना के छल से / मुझे वास्तव में आत्मसात् करती है / पलक-दर- पलक / नाटक के प्रत्येक अंक में'*।इस क्रांतिकारी आवेश के साथ-साथ राउतराय में ग्राम्य-जीवन की लयात्मकता और उसके बहुमुखी सौन्दर्य से परिचय तथा उनके प्रति गहरी जागरुकता है।' [उद्धृत: भूमिका - 'बसंत के एकांत जिले में']। सची राउतराय की कविता वैश्विक चेतना से ओतप्रोत लेकिन अपनी आन्तरिक भावभूमि में भारतीय चेतना से लैस कविता का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

उड़िया जन-जीवन की चिंतनशीलता, वहाँ के भूगोल, संस्कृत प्रकृति के उपादान तथा राष्ट्रीय जीवन मूल्यों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना इत्यादि तो सची राउतराय के काव्य विषय बनते ही हैं। लेकिन साथ ही साथ प्रगतिशील चेतना के बरअक्स कवि सामाजिक जीवन की विषमताओं, बिडम्बनाओं तथा पीड़ा को भी अपने काव्यकर्म में बराबर अभिव्यक्त करता है। इस क्रम में हम 'धीरे बहे कृष्णा नदी', 'कोणार्क', 'बन्दी का वन्दना', 'आश्विन की विदग्ध कविता', 'बसंत के एकांत जिले में', 'आश्विन,

1958', 'महायात्रा, 'पूर्णिमा में महानदी के किनारे', 'जन्माष्टमी-1971', 'समुद्र किनारे', 'स्मृति', 'जन्म दिनः मृत्युदिन', 'यदि एक चींटी ही होती' तथा 'शववाह का गाना' इत्यादि कविताओं पर ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। काव्य-कथ्य, अनुभूति तथा संवेदना के स्तर पर इन कविताओं में उस व्यापक संश्लिष्ट संरचना को वैचारिक एवं सांस्कृतिक भावदृष्टि समग्र मानवता से ओतप्रोत होकर उजाकर होती है। स्थानीयता एवं आंचलिकता का कोई भी तत्व सची राउतराय की निगाह से बच नहीं पाता और संभवतया यही कारण है कि जीवन के उतार-चढ़ावों की भांति ही सची राउतराय की कविता भी अनेक उतार-चढ़ावों पता देती है। इतिहास, कला, संस्कृति, राजनीति, भूगोल, दर्शन तथा जीवन का यथार्थपरक परिवेश सची राउतराय की कविता में अविछिन्न रूप से विद्यमान हैं। कविता में आलोचनात्मक स्वर सची राउतराय के यहाँ लगातार चिन्हित किया जा सकता है।

सची राउतराय की कविता रोजमर्रा की बातचीत की संवादात्मक लय, आंचलिक मुहावरों की प्रयोगशीलता, काव्य-शिल्प शब्दावली तथा सांकेतिकता, प्रकृति की मनोरम दृश्यावली देश तथा काल की गहन समझबूझ तथा साहचर्य भाव के लिये भी ध्यान आकृष्ट करती है और यही कारण है कि वे समकालीन उड़िया कविता के प्रतिनिधि कवि के रूप में स्थापित होते हैं- *'धीरे बहे कृष्णा नदी-/ प्रथम आषाढ़ जागे भू देवी की करूण आंखों में / पढ़ा है कविता में ऐसे समय में रोती है यक्ष-वधु / यक्ष के आंसू बनते हैं कालिदास की लेखनी में मधु / मैं तो चिर पथिक हूँ, नहीं हूँ, मैं उज्जयिनी वासी / शिप्रा के श्यामल तट पर था कभी परेदसी / आज नहीं वह याद, वर्षा का नीला अत्याचार। बार-बार मन में मेरे लहर तोड़ती है एक ही बात / छद्मवेशी, मैं तो छद्मवेशी हूँ। तुम मेरी शमी की शाखा, तुम्हारी गोद में मैं परदेसी। छिपाया है अस्त्र अपना, खो आया हूँ अपना अग्नि तूणीर / आषाढ़ के रहस्य में छिपी है मेरी सुवर्ण छावनी गढ़ा है शंखनीड़, टूटा है मेरा पथ से विश्वास / तुम्हारी शीतल छाया भयंकर है कितनी! / मेरा अज्ञात वास खत्म हो चला है। प्रथम प्रणय का नशा टूटा है अपनी माटी की सांसों में/ लौट चलें, वापस लोट चलें,। उज्जयिनी होकर, शिप्राद नदी की लहरे तैर / रामगिरि को मत्था टेक / चलो लौट चलें प्रिये, सुनो, सुनो बड़ी रुखी बात- लौट चलें इस्पात नगर/ लोहे का आह्वान आता है: देखों मेरी मांसपेशी के नीचे/ जाग उठा है। दिन का संकेत'* (धीरे बहे कृष्ण नदी, पृष्ठ 5, बसंत के एकांत जिले में, भारतीय ज्ञानपीठ, 2008)।

'आश्विन-1958' हालांकि एक स्तर पर प्रकृति-कविता ही है। क्योंकि इसमें आश्विन से सम्बद्ध अनेक प्राकृतिक उपादानों का उल्लेख मिलता है लेकिन एक और स्तर पर यह सकारात्मक एवं आशावादी स्वर के साथ मिलकर कवि की सूक्ष्म चेतना का उद्घाटन भी करती हैं। जिसमें हर्ष एवं आनंद है तो पतझड़ का स्वागत भी मौजूद है। अन्य शब्दों में इस कविता का स्वर अति व्यापक और समावेशी प्रकार का लगता है।

इसमें कई भावनाएँ सन्निहित हैं- यथा सुहावनी ऋतु का आगमन तथा किसी प्रिय मित्र की वापसी की प्रतीति, लेकिन अंततः यह व्यक्ति की अपनी हर्ष विभोर आत्मा की अद्भूत प्रतीति है जबक अंधकारमयी वस्तुएँ उजली खुशी के सामने विस्मृत सी लगने लगती हैं - *'आश्विन उसकी अपनी ऋतु है। आश्विन ही बर्फीला हंस -- आश्विन को बुलाओ, आश्विन को बैठाओ बरामदे पर। आराम कुर्सी पर। नारंगी क्रोटन के पत्ते पर, या लता-गृह में, या नदी किनारे। मेरा प्यार मेरी नदी है, मेरा शस्य मेरी शक्ति है। मेरे पक्षी मन में/ ऐ नूतन ऋतु, तुम आओ, नूतन अयन में मेरी आत्मा के गैरिक बोध में -- आश्विन को बुलाओ, आश्विन को लिवा लाओ। आनन्द के, चेतना के घर / अक्षत रंग के बादल, सफेद हंसों के झुण्ड, सफेद जूही / उसको प्रतिध्वनित करती हैं।'* (पृष्ठः 53:54)। कवि मानस की अधिमानसिक प्रवृत्ति को यहाँ आसानी से रेखांकित किया जा सकता है।

सची राउतराय की कविता के मुख्य तत्त्वों के तौर पर स्वच्छन्दतावाद तथा वामपंथी प्रगतिवाद की पहचान की जा सकती है लेकिन उनकी कविता की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता उसकी संरचनात्मक खासियत और समुचित बिम्बों की प्रयोगशीलता ही है। उनकी कविताएँ उत्कृष्ट शिल्प के नमूने हैं और उनकी भाषा सामान्यतः रोजमर्रा की सांस लेती हुई जीवंत बोलचाल की लय की साझेदार हो जाती है। *'तुमने देखा तो है शिलाओं पर / उसकी रम्य कला का रूप / मैंने देखा है उसमें करोड़ों कंकालों के / भग्न हृदय का स्तूप / तुमने देखा है खिली है किस तरह / कला के जादू से। रात्रि की काली यवनिका पर / स्वर्ण उषा की छवि'* (कोणार्क, पृष्ठ:10) जहाँ एक ओर सची अपनी एक कविता में आश्विन का स्वागत करते हैं, तो दूसरी ओर वे फागुन महीने की चीरफाड़ करते नजर आते हैं क्योंकि इस महिने में स्वतंत्रता आंदोलन की गति को बाधित करने का काम किया है। जबकि कवि स्वयं स्वतंत्रता का पुजारी है। 'बंदी की वंदना' शीर्षक कविता में कवि स्वयं बंदी की ओर से उसकी मनोव्यथा को व्यक्त करता है। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ कवि किसी विरोधाभास का शिकार नहीं है। बल्कि वह तो प्रकृति के उपादानों के व्यतिक्रम की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाहता है- *'फागुन तो आया गयाः। नूतन जीवन में हँस रही होगी रूक्ष मिट्टी की धरा / बंध्या विटपी, सांध्य तिमिर में खिल चुके होंगे अनेक फूल। वन-सभा-सखि हँस रही होगी। अलि कुल समवेत हुए हैं। रुद्ध हैं मेरी कोठरी का द्वार। यह खबर देगा भला कौन! विशाल धरा की खबर के लिये बंदी मैं बहाता हूँ, आंसू / मेरे चारों ओर खड़ी हैं।'*

'कविता: 1969' में सची राउतराय की 67 कविताएँ समाविष्ट हैं। तीन खण्डों में विभक्त इस संग्रह के पहले खण्ड 'दृश्य' की 27 कविताएँ अपने सामाजिक सरोकार, मूलभूत मानवीय संवेगों तथा स्नेह सिक्तता की संभावनाओं को अभिव्यक्त करती हैं तथा जिसमें ययार्थपरक कविताओं के साथ-साथ अधिभौतिक कविताएँ भी शामिल हैं। इनके पात्र और घटनाएँ समकालीन जीवनयथार्थ का पता देते हैं। ये वे पात्र हैं जो हरदम

जीवन के हाशिये पर जीने को अभिशप्त या विवश हैं जो गुमनाम तो हो सकते हैं लेकिन नगण्य या नकारणीय हरगिज नहीं हो सकते। दूसरा खण्ड 'समकालीन चेतना' शीर्षक लिए हुए हैं। इसमें कुल 29 कविताएँ हैं जो किसी घटना, व्यक्ति या अवसर विशेष पर केन्द्रित हैं यथा - नेहरू, गांधी, लाल बहादुर शास्त्री, सारंगधर दाश, जलियांवाला बाग इत्यादि यहाँ काव्य विषय बनते हैं। तीसरे खण्ड का शीर्षक है 'अन्य कविताएँ' जिसमें कुल ग्यारह कविताएँ शामिल हैं। इसमें एक काव्य नाटक 'सीता-चोरी' भी शामिल हैं। उक्त नाटक मानव-चरित्र के सार से सम्बन्धित एक केन्द्रीय प्रसंग को प्रस्तुत करता है तथा शिव और अशिव के मध्य द्वंद्व के रूप में महाकाव्य के सुगम प्रणयन को चुनौती देता है। इसमें अनेक समसामयिक परिस्थितियों तथा चरित्रों की विद्यमानता है जो महाकाव्य की कथा और मूल्य व्यवस्था में नये आयाम जोड़ने का काम करते हैं। सीताकांत महापात्र के शब्दों में कहें तो 'कविता: 1962' तथा 'कविता : 1969' दोनों पुस्तकें संयुक्त रूप से एक सूक्ष्म संवेदना, मुहावरे की पक्की पकड़ और एक सुकुमार शिल्पगत अभिव्यक्त करती हैं। यह एक ऐसे कवि का परिपक्व प्रकाशन है जिसकी गणना भारत के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कवियों में होती है।' (भूमिका, 'बसंत के एकांत जिले में')।

उड़िया समाज में व्याप्त असमानता, शोषण, दमन तथा उत्पीड़न जैसे ज्वलंत मुद्दों को उजागर करने के साथ ही साथ सची राउतराय का कवि मानवीय मूल्यों को लेकर भी उतना ही सचेत और जागरूक नजर आता है तथा मनुष्य के विरोध में सक्रिय तमाम ताकतों का विरोध करने की दृष्टि से भी उनकी कविता अत्यन्त मुखर दिखाई देती है। 1938 में उड़िसा के सामंतवाद-विरोधी जनआंदोलन के समय अनेक लोग फौज की गोली खाकर शहीद हो गये थे। फिर लोगों के दिलों में आजादी तथा समानता की भावना अक्षुण्ण बनी रही - *'मार तू जितनी भी गोलियां / मर जायेंगे पर नहीं डरेंगे, यह मत जाना भूल / घुड़सवार सिपाही तेरे लगायें जितने भी कर / खोल कर छाती का हाड़ आयेंगे हम आगे / रख अपनी तू लाठी, काठ की लाठी, हाड की है हमारी छाती / मौत हमारी दोस्त है, जान, पीड़ा, हमारी साथी। अपने महावत को हाथी पर बिठा सिपाहियों से तलवार चलवा। गौरखा फौज हमारे धन से रखी हैं तूने जितनी पाल / ला रे सच तैयार हैं हम, आये हैं प्रण करके। एक छत्र शासन-नीति पैरों - तले रौद देंगे'* ('मार तू जितनी भी गोलियां', पृष्ठ 17)। अपने वृहद काव्य सरोकारों में सची राउतराय की कविता खुली हवा में सांस लेने वाले, दो वक्त की रोटी का मुश्किल से जुगाड़ करने वाले सामान्य जन के हक की आवाज को बुलंद करने वाला काव्य स्वर ही है- *'बहुत भूखा हूँ बाबू! बहुत भूखा हूँ आज दो खाने को भात / अपने मुठ्ठी भर हक के लिये और कब तक फैलायें हाथ? / जो धान हमने बोया, काटा वही धान हमें दो आज। पीड़ित आत्माएँ गरज रही हैं, सुनो उनकी घनघोर आवाज'* (भात-पृष्ठ 27)

अन्य शब्दों में कहें तो सची राउतराय की कविता में व्याप्त 'पीड़ित आत्माओं की घनघोर आवाज' न केवल लौकिक सत्ता-व्यवस्था तक पहुंचने को प्रयासरत रहती हैं बल्कि वह अलौकिक सत्ता तक अपनी गुहार लगाती भी सन्नद्ध दिखाई पड़ती है। इस क्रम में 'अश्विन की विदग्ध कविता', 'कविता की एक परिभाषा', 'चिट्ठी' तथा 'प्रश्न', इत्यादि कविताओं का उल्लेख किया जा सकता है। लेकिन यहाँ सर्वाधिक उल्लेखनीय कविता है 'कहाँ हो भगवान?' जो अपने सम्पूर्ण काव्य-कलवेर, भाषा शिल्प तथा मंतव्य के स्तर पर भारतवर्ष के दमित-पददलित-शोषित-वंचित तथा अभावों के बीच जीवन गुजारने वाले बहुसंख्यक वर्ग की मनोव्यथा को मुखरित करती है – *'कहाँ हो भगवान? / आकाश, पवन गर्जन कर मेरे कानों में कह जाते, 'नहीं है, नहीं हैं'।* जहाँ भी डालता हूँ। *आज मैं निगाह वहीं देखता हूँ सिर्फ दीन, उदास आंखें / अन्न के लिये तड़पती लोगों की आत्माएँ। कर रहीं हाय-हाय! कहाँ हो भगवान?।* चारों और देखता हूँ, अमीर शोषण करता है। *धर्म के नाम पर है सारी यातनाएँ।* बहुतों का खून तो लेता है चूस / मुंह से राम नाम गाकर। *कहाँ हो भगवान? -- राजा देवता से बड़े सौ गुने / पूर्व जन्म का फल है अमीरी/ अमीरों का शास्त्र यह बात कह। चाट लेता है सिर हमारा! कहाँ हो भगवान* (पृष्ठ: 28)। इस प्रकार देखें तो चौथे- पांचवे दशक की उड़िया प्रगतिशील कविता के दौर में सच्चिदानन्द राउतराय उसके प्रमुख स्वर रहे हैं तथा उनकी कविताओं ने विपन्न व्यक्ति तथा उसके अभावों और कष्टों को प्रभावी ढंग से मुखर किया है। यथार्थपरक संवदेनशीलता के बल पर तथा अनुभवों की प्रामाणिक एवं व्यापक अभिव्यक्ति के आधार पर ही सची राउतराय ने ख्याति अर्जित की है।

सीताकांत महापात्र के मुताबिक ''यही वह सरोकार है जिसे 'कोणार्क' कविता भिन्न प्रकार से व्यक्त करती है। जहाँ कवि मन्दिर को एक उच्चकोटि की सौन्दर्यपरक अभिव्यंजना के रूप में नहीं, बल्कि भग्न हृदयों और लाखों कंकालों के एक ढेर के रूप में देखता है। उसका मंतव्य है कि कविता और कला ने अपनी आदिम भव्यता के दौर में मनुष्य और उसके श्रम या प्रकृति को अभिव्यक्ति न देकर, शिल्पकृतियों और कलाओं को अभिव्यक्ति देनी है जो प्राय: जनसाधारण के शोषण द्वारा रची गयी थी।''

कविता की सची राउतराय के यहाँ अनेक भूमिकाएँ हैं। यहाँ कविता कवि के लिये कई बार तर्क का, तो कई बार आह्वान और सम्बोधन का काम करती है। वह सामाजिक बदलाव के एक उपकरण की भूमिका का निर्वहन भी करती है। कविता यहाँ वंचितों और दमितों की वाजिब माँग और हक की आवाज बनकर उजागर होती है तो कवि के लिये काव्य कर्म अपनी संवेदना को सार्थक दिशा में संवाद कायम करने का जरिया भी बनता है और आगे जाकर कवि का यही जरिया उसका नजरिया भी बन जाता है। यही नजरिया कुल मिलाकर सची राउतराय की जीवनदृष्टि का पर्याय बन जाता है। सची राउतराय की कविता सोचती और बोलती हुई कतिवा है तो यह लोगों को जोड़ती

और जड़ता को तोड़ती हुई कविता भी है। सार्वदेशिक संश्लिष्टता और संश्लिष्ट-सार्वदेशिकता की पहचान को पुख्ता करने के लिहाज से सची राउतराय की कविता का अपना अलग ही महत्व है।

सची राउतराय के काव्य कर्म की धुरी को रेखांकित करने की दृष्टि से 'कविता की परिभाषा' शीर्षक कविता प्रत्येक स्तर पर सटीक लगती है। कविता कवि के लिए जीवन की परिभाषा से अलग नहीं है। कविता महज काव्य न होकर कवि के लिये आविष्कार है और अपनी ही व्याकुल तलाश भी है और अंततः इस सृष्टि का शुभ सम्बोधन है। उक्त कविता की प्रारंभिक पंक्तियां हैं:- *'न हो कविता मेरे बन्द गले के कोट सी / सिर्फ मेरा ही पहनावा? / उड़ जाये इधर-उधर हवा में / सफेद उत्तरीय सा,। एक स्वाधीन निशान सा हवा के झोंके में / मेरे गले में सिर्फ बंध रहे उसका एक छोर / बाकी का सारा हिस्सा झूलता रहे झूले सा आकाश में । अथवा एक तीर सा चल जाए वह खाली कर । मेरे मन का तरकस! / मैं कवि हूँ जमीन, मिट्टी और मनुष्य का / गाना मेरो धर्म है - इस पृथ्वी, इस आकाश की कथा / फिर भी मैं आजाद पंछी हूँ या क्या मैं युधिष्ठिर का रथ हूँ? अंगुली भर जमीन छोड़ ऊपर बहने लगता है समय का पथ / अजीब है इस धरती, जीवन, मनुष्य की गाथा / मुझे ही आश्रय दे, मुझसे ही माँगती है नित प्रकाश वह / इस धरा के विविध रंग, विविध ध्वनियाँ / सुरभित क्षण विचित्र जो मुझे व्याकुल करते हैं, करते हैं मुझे वाक्मय, मूर्त'* (पृष्ठ:43)। मनुष्य के सुख-दुःख में प्रकृति के तमाम कारक भी सहचर बन जाते हैं जो मनुष्य के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी नजर आते हैं। मनुष्य और प्रकृति के आत्मसातीकरण के बिम्ब हमें सची की अनेक कविताओं में मिलते हैं। 'चिट्ठी', 'बसंत के एकांत जिले में', 'स्मृति-लेख', 'एक फागुन' तथा 'समुद्र किनारे' इत्यादि कविताओं को इस प्रसंग में याद किया जा सकता है।

प्रगतिशील तेवर तथा अपनी आंचलिकता से समृद्ध सची राउतराय की कविता अपने बौद्धिक तत्त्वों की वजह से भी महत्वपूर्ण बन जाती है। यह सची राउतराय की कविता में ही देखा जा सकता है कि एक ही सर्जक के यहाँ प्रकृति की सुषमा, जीवन के यथार्थपरक बिम्ब तथा बौद्धिकता के तत्व एक साथ विद्यमान रह सकते हैं। सची की कविता में मानवीय चिंताएँ, आलोचनात्मक तेवर, व्यंग्य तथा आत्मपरीक्षण भी एक ही साथ सक्रिय देखे जा सकते हैं। तीव्र भावावेग तथा संवेदनशील प्रवृत्ति को उनकी कविता में हर जगह रेखांकित किया जा सकता है- *'मेरे तरु की डाल डाल पर फूलों का इशारा / जो फूल फल को पुकारता है / मेरे मन के कमल-वृंत को छूता है संपेरे का गीत / जो कमल ललिता के हृदय में है। आई है प्रमिला रात सहेलियों के साथ। गली-गली में फेंक लाख धनुष के तीर/ आई है आदिम ध्वनि लौट फिर एक बार। मिटा लोहे और टीन की सारी झंकार -- रंगीन रहस्यमय एक प्रार्थना भरी भूमिका भागे हुए समय का मैं*

भी एक चिन्ह हूँ। मैं खुद ही फागुन हूँ' (पृष्ठ : 57-58)। सची राउतराय अपनी कविता में न केवल प्रकृति के विविध रूपाकारों को याद करते हैं बल्कि सार्वजनिक जीवन को समर्पित व्यक्तित्वों के योगदान को भी याद करते हैं। यही कारण है कि वे जिस त्वरा से विधान चन्द्र राय के अवसान को रेखांकित करते हैं उसी आवेग के साथ महानदी के महती योगदान को भी रेखांकित करते हैं। इसके अलावा उड़िया जन-जीवन के सांस्कृतिक पर्वों तथा भारतीय-सांस्कृतिक परम्परा के तमाम उज्वल पक्षों को भी बराबर का महत्व देते हैं। सची राउतराय की प्रगतिशीलता भारतवर्ष की समृद्ध विरासत तथा भारतीय चेतना के समांतर अपना रास्ता तय करती चलती है, क्योंकि उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को भारतीय परिवेश के अनुकूल बना लिया है।

सची राउतराय की कविता काल के तीनों आयामों में आवागमन करने वाली कविता है जो अंततः मनुष्य के बेहतर भविष्य पर केन्द्रित होती है। भविष्य-चिंतन के क्रम में कवि समकालीन जीवंत चरित्रों को अपनी कविता के विषय बनाता है। इससे आगे जाकर देखें तो वह पौराणिक पात्रों की मनोदशा को ध्यान में रखकर वर्तमान काल के मनुष्य मनोदशा को ध्यान में रखकर वर्तमान काल के मनुष्य के जीवन का भाष्य लिखता दिखाई पड़ता है। कृष्ण, द्रोपदी, नचिकेता, ययाति, पुरु, तथा अन्य अनेक भारतीय मिथकीय चरित्रों को निमित्त बनाकर कवि समकालीन जीवन परिवेश की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करता है तथा मनुष्य के अस्तित्व को एक सुदीर्ध संश्लिष्ट परम्परा से जोड़कर स्वयं आत्मनिरीक्षण करने को तत्पर रहता है - *'मैं सो गया था / उठ कर देखा / महाभारत युद्ध समाप्त हो चुका है। कौन कहाँ गए। कुछ पता नहीं। महा-महा योद्धा लुढके हुए थे। भूरिश्रवा भी मारा गया। तत्पर होते होते / माँ के पेट का अंतिम भ्रमण तक / जल गया कुश के बाण से / खून की नदी / एकाएक बारिश से धुल गई। --- ' अब और नींद नहीं आती। खाऊंगा नींद की गोली। मैं गाता हूँ नींद तोड़ने के गीत'* (नींद, पृष्ठ : 124-125)

समग्रतः देखें तो सची राउतराय का शिल्प विधान; मानवीय करूणा; व्यंग्य; तीव्र भावावेग; संवेदनशील काव्यानुभूति; जीवन का यथार्थपरक चित्रण तथा ज्ञानात्मक संवेदन एवं व्यापक जीवन दृष्टि के साथ-साथ सामाजिक बदलाव के लिये मौजूद कवि की व्यग्रता उन्हें अपने समय का अग्रगामी कवि बनाएं हैं, जिसमें उनकी प्रगतिशील विचारधारा की महत्वपूर्ण भूमिका स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

40/1214, टेकरी

उदयपुर (राज.) 313 002

जन और कविता के अन्त:सम्बन्धों की समीक्षा-कृति

नंद चतुर्वेदी

श्री रामनिहाल गुंजन जन पक्ष के कवि और मार्क्सवादी आलोचना के क्षेत्र का सुपरिचित नाम है। इसके साथ ही साहित्य के जाने-माने विदेशी समीक्षकों की आलोचना कृतियों तथा देश के वरिष्ठ एवं विशिष्ट जन-पक्षधर सर्जकों के अवदान पर उन्होंने जो काम किया है वह विशेष रूप से उल्लेखनीय और पठनीय है। इसी क्रम में उनकी पिछले वर्ष प्रकाशित समीक्षा-कृति 'हिन्दी कविता का जनतंत्र' का उल्लेख करना आवश्यक है। समीक्षा-पुस्तक में नागार्जुन, केदारनाथ पर तीन-तीन, त्रिलोचन पर चार शील पर दो, अज्ञेय और गोपाल सिंह नेपाली पर एक-एक कुल चौदह आलेख और ''हिन्दी कविता का जनतंत्र'' भूमिका के रूप में एक अलग से सुचिंत्य लेख शामिल है।

प्रारम्भ के 'भूमिका' लेख में लेखक 'कविता और जनतंत्र' के बारे में अपने एक छोटे-से वैदुष्यपूर्ण लेख द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के लेखक रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को 'किसी देश की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब माना, जिसका निर्माण बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होता है।'

इस सूत्र को पकड़ कर रामनिहाल 'कविता के जनतंत्र' की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मुक्तिबोध के हवाले से लिखते हैं। ''आज ऐसे कवि चरित्र की आवश्यकता है जो मानवीय आवश्यकता का बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए सामान्य जनों के गुणों और संघर्षों से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करे। उनके संचित जीवन-विवेक को स्वयं ग्रहण करे तथा अधिक निखार कर काव्यात्मक रूप में उन्हीं की चीज को उन्हें लौटा दे।''

आलोचक की दृष्टि से नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शील, गोपाल सिंह 'नेपाली' कविता के जनतंत्र को सुरक्षित, संवर्धित करने वाले कवि हैं। जिनमें से कुछ की जन्मशती भी इन लेखों को लिखने का कारण बनी है। पुस्तक में संयोग से या

अपवाद की तरह अज्ञेय पर भी एक लेख है लेकिन यह गुंजनजी की साहित्यिक सैद्धान्तिकी से मेल नहीं खाता। जिसका आभास उनका 'भूमिका' और 'अज्ञेय' के साहित्य का समाज शास्त्र' लेख से लगाया जा सकता है।

'भूमिका वाले लेख में अज्ञेय को लेकर यह टिप्पणी दर्ज है, ''जो कवि इसके (कविता के जनतंत्र) के बरक्स सिर्फ 'प्रयोग' तथा 'कला कला के लिये' लिखते रहे उनकी काव्य-कला की दुनिया में जनतंत्र की चर्चा करने का कोई अर्थ नहीं है, चाहे वे 'तार-सप्तक' के अज्ञेय-पथ के अनुयायी कवि हों या 'नकेनवादी' कवि, उनमें जनता के पक्ष का कोई चिन्तन नहीं है। (हिन्दी कविता का जनतंत्र, पृष्ठ 11)।''

लेकिन 'अज्ञेय के साहित्य का समाज-शास्त्र' वाले लेख में रामनिहाल जी ने एक निष्पक्ष आलोचक की तरह अज्ञेय के रचना-कर्म के पक्ष-विपक्ष के मतों का उल्लेख करते हुए संतुलन बनाये रखने का यत्न किया है। प्राय: उनकी समीक्षाएँ कटूक्तियों, अतिशयोक्तियों और असाहित्यिक आग्रहों से दूरियां बनाये रखती हैं। उनकी स्थापनायें आलोच्य-कृति के आधार पर होती हैं जो उनको एक अध्ययनशील विद्वान होने का गौरव देती हैं। अपने मत की पुष्टि वे प्राय: दूसरे विद्वानों की साक्ष्य और लेखक से अपने सघन सम्पर्कों का संदर्भ देकर करते हैं। वे कविता के 'लोक मंगल' पक्ष के प्रतिबद्ध समीक्षक हैं। जिसकी साक्ष्य उनकी यह पुस्तक 'हिन्दी कविता का जनतंत्र' है। पुस्तक में वे प्रगतिशील काव्यधारा के शीर्ष कवियों नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शील और गोपाल सिंह 'नेपाली' को शामिल करते हुए उनकी जन-पक्षधरता को कविता का 'केन्द्रीय स्वभाव' और 'सर्जना' का मुख्य सरोकार' के रूप में रेखांकित करते हैं। इन कवियों को गुंजनजी ने प्रगतिशील कविता के ''आर्दश कवियों'' की तरह सम्मानित किया है। अच्छा होता यदि वे यहाँ भी अज्ञेय वाले आलेख की 'संतुलित शैली' का प्रमाण दे सकते? वैसे ये आलेख विस्तार और सैद्धान्तिक-विश्लेषण के न होकर भी प्रत्येक कवि के महत्त्वपूर्ण और मौलिक अवदान को रेखांकित करते हैं।

'हिन्दी कविता का जनतंत्र', जैसा मैंने पूर्व में भी संकेत किया है, कवियों की नितांत भावुकतापूर्ण प्रशंसा-कथनों का संकलन नहीं है बल्कि उन तार्किक निष्पत्तियों को आगे बढ़ाने का उपक्रम है जो हमें भक्तिकाल की समतावादी काव्य-परम्परा से जोड़ती हुई आज की विषमतावादी व्यवस्था से संघर्ष करने का उत्साह देती है।

इन कवियों में नागार्जुन को रामनिहाल गुंजन ने इस तरह सराहा है, ''दरअसल नागार्जुन एक जनकवि, एक जन गीतकार और पूरे अर्थ में जनता के लेखक थे जिनकी साहित्य-साधना भारतीय समाज के शोषितों-उत्पीड़ितों के पक्ष में आजीवन जारी रही। कहने की आवश्यकता नहीं कि नागार्जुन का रचनाकार व्यक्तित्व दुर्दमनीय, दुर्दम,

अनमनीय, क्रान्तिदर्शी था।''

दुर्दम, अनमनीय, क्रांतिदर्शी
छद्‌वाम पर निरन्तर बाण बर्षी
अकपट बंधु तुम विश्व सर्वहारा के
अक्षय उत्स तुम जन-चेतन धारा के

(ये पंक्तियां नागार्जुन ने 'लू-शुन' को याद करते हुए लिखी थीं जिन्हें गुंजनजी ने नागार्जुन को भी याद करने के लिए उपयुक्त समझा)। समीक्षक ने केवल उनकी कविता की जन-पक्षधरता को ही नहीं रखा है। बल्कि उन उपन्यासों की भी विस्तार से बात की है जिनमें वे नारी-विमर्श और दलित विमर्श की प्रमुखता से चर्चा करते हैं। दरअसल नागार्जुन की सामाजिक, राजनीतिक चिंताओं के क्षेत्र बहुत व्यापक हैं। एक शोषक, विषमतावादी व्यवस्था के अनेक प्रतिरोधी मोर्चो पर वे एक 'एक्टिविस्ट' की तरह मौजूद रहते हैं।

नागार्जुन ने 'सलज्ज कविता भाषा' के रूमानी मुहावरे के तोड़ने का काम भी किया है। वे कबीर की तरह निहित स्वार्थों के प्रपंचों को उजागर करते हैं, उनकी भाषा नये अपरिचित सौन्दर्य शास्त्र की रचना करती है। उदाहरण के लिए आपात् काल की श्रीमती इंदिरा गांधी के लिए और गुजरात के नृशंस साम्प्रदायिक दंगों के समय नरेन्द्र मोदी के लिए लिखी साहसिक व्यंग्य रचनाओं को याद किया जा सकता है।

रामनिहाल जी ने कवि त्रिलोचन पर पुस्तक में चार आलेख लिखे हैं जो विस्तार से उनकी काव्य-चेतना और कवि-कर्म पर प्रकाश डालते हैं। मुक्तिबोध का कथन उद्‌धृत करते हुए त्रिलोचन की कुछ विशेषताओं को रेखांकित किया है- ''मनोवैज्ञानिक काव्य की प्रधानता, निराशा और दुख की कालिमा से दूर तथा पराजय स्वीकार नहीं करना उनकी प्रमुख विशेषताऐं रही हैं।''

''त्रिलोचन जीवन की विविधता में यकीन करने वाले रचनाकार थे। यही वजह है कि उनकी रचनाओं में यह विविधता कई रूपों में दिखाई पड़ती है। वे एक तरफ मनुष्य जीवन को समग्रता में चित्रित करते हैं तो दूसरी तरफ वर्ग-विभाजित मनुष्य-मनुष्य के फर्क को भी अपनी रचनाओं द्वारा रेखांकित करते हैं। दूसरे उनकी दृष्टि में शब्द काफी नहीं इसलिये कि वे शब्द और कर्म को समान महत्त्व देते हैं। उन्होंने अपनी एक कविता का शीर्षक ही दिया है। 'शब्दों में कभी-कभी काम नहीं चलता। क्योंकि वे क्रिया में विश्वास करते हैं और मानते हैं कि 'भाषा की लहरों में जीवन की हलचल है। ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है।''

रामनिहाल जी ने त्रिलोचन के कवि-कथाकार व्यक्तित्व के साथ-साथ उनके चिंतक रूप को भी लक्षित किया है। लिखा है 'एक भाषा वैज्ञानिक, एक सभ्यता-समीक्षक और एक इतिहासकार के समन्वित रूप का साक्षात्कार होता है। उनके उक्त सभी रूपों का गहरा प्रभाव उनके रचनाकार व्यक्तित्व पर देखा जा सकता है।'

त्रिलोचन के मूल्यांकन को समेटते हुए समीक्षक ने लिखा है, ''जाहिर है त्रिलोचन संघर्ष और जिजीविषा के कवि हैं जो बराबर जनजीवन को अपनी रचनाओं के जरिए प्रेरित और संवेदित करते रहे।''

लोक-जीवन के सौंदर्य को बचाने वाले कवियों के क्रम में रामनिहाल गुंजन केदारनाथ अग्रवाल को 'गीतात्मक संवेदना' का कवि कह कर चिन्हित करते हैं। इसी प्रसंग में वे रामविलास जी के विचार का उल्लेख करते हैं जो उन्हें 'स्वत: स्फूर्त गीतों का रचनाकार' की पाँत में रखता है। शमशेर जी ने उन्हें 'नार्मल रोमेन्टिक कवि' कहा है। ध्यान से देखने पर केदार जी 'प्रकृति और सौन्दर्य के कवि ही ठहरते हैं।' लेकिन यह कहकर कवि की संघर्षशील तथा अभावग्रस्त किसान-मजदूरों के पक्ष में लिखी कविताओं को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता जो उनकी कविता का केन्द्रीय स्वर है।

केदार जी की प्रतिबद्धता के सिलसिले में समीक्षा-लेखक ने 'केदारनाथ अग्रवाल के पत्र-प्रसंग और विचारधारा' आलेख जोड़कर महत्त्वपूर्ण काम किया है। इसे पढ़कर कवि केदार की उन चिंताओं से भी रू-ब-रू हुआ जा सकता है जो वृहत्तर जन-समूहों से जुडी है और जिनसे मुक्ति की आवाज साहित्य के हिस्से में आती है।

'हिन्दी कविता का जनतंत्र' में जन-कवि 'शील' पर दो लेख हैं। उनमें से पहला लेख 'जन-कविता और जन-कवि' शीर्षक से है। इस लेख का महत्त्व इसलिए है कि वह 'जनपक्षधर कविता और जन-कविता के बारीक-से भेद को स्पष्ट करती है। जनपक्षधर कविता वह है जो व्यापक जनता के पक्ष में लिखी गई होती है। अर्थात् जिसमें जनता का पक्ष भी प्रमुख होता है। लेकिन जन-कविता जनता और जन-संघर्षों से जुड़े बिना संभव नहीं है, जबकि जन-पक्षधर कविता बिना जन-संघर्षों से जुड़े भी लिखी जा सकती है।'

''. . . . . . जन कविता से जन-जीवन की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थितियों का पता तो चलता ही है उससे जन-रूचियों और जन आकांक्षाओं तथा जन चेतना की सूचना मिलती है।''

राम निहाल जी ने इसी परिप्रेक्ष्य में जन-कवि शील की विस्तार से समीक्षा की है।

शील ने जिस ईमानदारी से अपने कवि कर्म को अभिव्यक्त किया है, उन्हें इन पंक्तियों में समीक्षक ने रेखांकित किया है-

हमारी कविता

आदमी के रक्त की तरह लाल

रक्त की गति की तरह आंदोलित

हमारी कविता की दुनिया

आदमी के मन एहसास की

विश्वास की दुनिया है

पुस्तक में गोपाल सिंह 'नेपाली' और स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' पर एक-एक लेख है। नेपाली की छवि एक प्रसिद्ध गीतकार की तरह तो रही लेकिन वे उस तरह कीर्ति के शिखर तक नहीं पहुंचे जैसे पुस्तक के अन्य चर्चित कवि।

देखने की बात है कि छायावाद या उत्तर-छायावाद के सभी कवि गीत-धारा के ही हैं। गीत की बुनावट में उन्होंने विविध प्रकार के प्रयोग किये हैं। उसके माधुर्य, व्यक्ति-निष्ठता, रागात्मकता को यथावत् रखते हुए उग्र क्रान्ति चेतना के जन-गीत भी लिखे गये हैं।

यह बात दूसरी है किन्तु विचारणीय कि गद्य-कविता ने हिन्दी की मुख्य धारा होने का वर्चस्व क्यों और कैसे हासिल कर लिया है?

नेपाली उसी गीत-धारा के कवि हैं जो बदलाव और बराबरी की दुनिया का सपना देखते 'कल्पना करो, नवीन कल्पना करो' का गीत गा रहे थे। इन नयी उमंगों को जगाते गीतों को रामनिहाल जी ने 'ठोस धरती के गंध से परिचित कराने वाले' कहा है। संयोग से मैं उन दिनों राजस्थान के कोटा नगर में एम.ए. का विद्यार्थी था और 'नये गान होंगे नयी वंदना में' और मेरा मित्र कवि रामनाथ 'कमलाकर' शारदे माँ से नये गान देने का प्रार्थना-गीत लिख रहे थे। (शुभ शारदे माँ नया गान दो माँ, नया गान दो)। तब हमारी कवि मंडली का कवि जगदीश चतुर्वेदी 'नेपाली' का एक रूमानी गीत सुनाया करता था। जिसकी एक पंक्ति इस प्रकार थी, "उस पार कहीं बरसे होंगे बादल, जो भर-भर आते मेरे भी लोचन"। उन दिनों प्रेम-प्रसंगों को भी अभिजनवादी नजरिए से देखा-समझा जा रहा था। रूमानी कविता को 'प्रोग्रसिव' कविता के दायरे में माना जाता था। आजादी के बाद वाले परिदृश्य में शोषण की साम्राज्यवादी व्यवस्था बदलने का आग्रह कोई 'यूटोपिया' नहीं रहा उसने एक हकीकत वास्तविकता रूप से लिया था। नेपाली ने तब यह लिखा-

यह अमीर राज्य न्याय नीतियों के नाम पर

कैद कर रहा समाज को टके छदाम पर

तुम उठो कि कड़कड़ा उठें करोड़ बेड़ियाँ
एक साथ एक बार तोड़ कर गिरा चलो।

नेपाली की कविता का एक और पक्ष 'देशभक्ति' भी याद किया जायेगा। इस आलेख के अंत में नेपाली जी की ये पंक्तियां गुंजनजी ने दी हैं-

हर क्रांति कलम से शुरू हुई सम्पूर्ण हुई
चट्टान जुल्म की कलम चली तो चूर्ण हुई
हम कलम चला कर त्रास बदलने वाले हैं
हम तो कवि हैं इतिहास बदलने वाले हैं।

'हिन्दी कविता का जनतंत्र' पुस्तक का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है। क्योंकि वह उन क्रांति चेता रचनाकारों के जीवन संघर्ष की याद दिलाती है जो शोषण-विरोधी व्यवस्था और सभ्यता के मुखर प्रचारक थे जिनकी पद चाप आज धीमी पड़ गयी है। आज बचे-खुचे जनतंत्रवादी कवि-रचनाकार तक यह भूल गये हैं कि वे कितने प्रासंगिक और जरूरी हैं।

30 अहिंसापुरी,
उदयपुर

पुस्तक समीक्षा

अंधेरे बियाबान में लेम्पपोस्ट

माधव नागदा

'अभी उम्मीद बाकी है' के पश्चात् 'उन्हा थ्री' डॉ. संदीप अवस्थी का दूसरा कहानी संग्रह है। संदीप का एक कविता संग्रह 'वह स्त्री लिख रही है' भी आ चुका है। साथ ही समीक्षक के रूप में उनकी अलग पहचान तो है ही।

'उन्हा थ्री' की कहानियों को पढ़ते हुए लगता है कि संदीप अवस्थी के भीतर देश के वर्तमान हालात को लेकर एक बेचैनी है। एक आग है जो इस देश को रसातल में ले जाने वाली तमाम चीजों को जलाकर भस्म कर देना चाहती है। एक अन्वेषी दृष्टि है जो झूठ के खूबसूरत कालीन के नीचे दबी सचाई को बेपर्द कर देना चाहती है। और एक नवोन्मेषी दृष्टिकोण है जो हमें आश्वस्त करता है कि अभी भी सब कुछ समाप्त नहीं हुआ है। कि 'अभी उम्मीद बाकी है।'

'उन्हा थ्री' एक ऐसी ही कहानी है जो अंधेरे बियाबान में लेम्पपोस्ट की तरह है। सेवानिवृत्त मास्टर रामलाल अपनी पेंशन के लिए विभाग के चक्कर लगा-लगाकर थक गये हैं। इस बार शायद सातवीं बार इस कार्यालय में आते हैं। और हर बार की तरह उन्हें इस टेबल से उस टेबल तक रड़काया जाता है। अन्त में उन्हें ऐसी टेबल से साबका पड़ता है। जहाँ एक युवक ट्रांजिस्टर पर कमेंट्री सुन रहा होता है। वे कुछ भी कहने की हिम्मत नहीं जुटा पाते हैं। लेकिन आशा के विपरीत वह युवक पूरी रुचि के साथ संबंधित फाइल ढूंढकर ऐन उस वक्त मास्टर रामलाल को थमा देता है जिस वक्त उत्तरी कोरिया का चंद्रयान आखिरी कक्षा में पहुंचते पहुंचते दुर्घटना ग्रस्त हो जाता हे। यहाँ रामलाल की परेशानियों और अंतरिक्ष में ऊंचे से ऊंचे बढ रहे यान उन्हा थ्री में अच्छा कंट्रास्ट रचा गया है। कहानी एक महत्त्वपूर्ण सवाल उठाती है कि जरूरी क्या है? भौतिक उपलब्धियां हासिल करना या इंसानियत की बुलंदियों को छूना? लेखक को आज के युवा पर पूरा भरोसा है बावजूद इसके कि पुस्तक की भूमिका में वे आज के युवा लेखन के प्रति कुछ निराशा सी व्यक्त करते हैं। 'यह देश है वीर जवानों का' कहानी 'उन्हा थ्री' की ही बात

को आगे बढ़ाते हुए कहती है कि इस देश का युवा ही तमाम तरह के घोटालेबाजों, रिश्वतखोरों, भ्रष्टाचारियों को बेनकाब करने का साहस रखता है। ऐसे हिम्मतवर युवा ही इस देश की आशा हैं।

आज के दौर का सबसे दुःखद पहलू है बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और सरकारी तंत्र के गठबंधन के कारण किसानों और आदिवासियों के अधिकारों का हनन। इसी के चलते जहाँ एक तरफ किसान आत्महत्या करने को लाचार होते वहीं दूसरी तरफ आदिवासियों को हथियार उठाने के लिए मजबूर होना पड़ता है। 'पास्को, सरकार और किसान' कहानी में पास्को कम्पनी व्यवस्था के साथ गठजोड़ के चलते किसानों की बंजर जमीन के साथ हजारों बीघा उपजाऊ जमीन भी कब्जाने को कटिबद्ध है। किसान विरोध करते हैं। उनकी चिंता वाजिब है, 'हम अपनी जमीन, खेत, घर से कटकर कहाँ जाऐंगे?' विडम्बना यह है कि उद्योग मंत्री स्वयं आदिवासी होते हुए भी किसानों के साथ नहीं बल्कि कम्पनी के साथ हैं। अन्ततः किसानों की तरफ से ही एक हल निकलकर आता है, 'जितने गांव प्रभावित हो रहे हैं उन सबके दस-दस लोगों की सहकारी समिति बनेगी जिसे पास्को अपने मुनाफे से हर तिमाही एक निश्चित हिस्सा देगी। यह राशि किसानों, आदिवासियों के उत्थान हेतु होगी जिससे वह समिति विकास कार्य करवायेगी। सहकारिता का यह मंत्र यद्यपि थोड़ा मासूम सा लगता है तथापि इसके सहारे किसानों के कल्याण की दिशा में देर सवेर किसी ठोस मंजिल तक पहुंचने की संभावना तो जगती ही है।'

''अन्तर्यात्रा'' नक्सली आंदोलन के कारण, दशा और दिशा की गहराई और गंभीरता से पड़ताल करती है। आदिवासियों की दुर्दशाा का कारण भी वही है जो किसानों के मामले में हैं, यानी तंत्र और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का अदूरदर्शितापूर्ण गठजोड़। पत्रकारों की एक टीम अपने चेनल की स्टोरी के लिए नक्सली नेताओं से मिलने घने जंगल में जाती है। मन में एक धुकधुकी क्योंकि नृशंसता के कई किस्से प्रचलित हैं। अफवाह यह भी फैली हुई है कि ये लोग आम आदिवासियों को टारगेट बनाते हैं और स्वयं शान से जीते हैं। किन्तु जब टीम नक्सली नेताओं से मिलती है तो हकीकत सामने आती है। वे भी वैसी ही अभावग्रस्त जिंदगी जी रहे हैं जैसी आम आदिवासी। उनकी संवेदनशीलता का भी कोई सानी नहीं। तीनों नक्सली नेताओं का यह कथन पाठकों को झिंझोडकर रख देता है, 'हमें हमारे जंगल दे दो, जमीन दे दो। हमें समझो, हमें जीने दो। हम भी इन्सान हैं, जीना चाहते हैं।'

आतंकवाद भी आज की एक ज्वलन्त समस्या है। इस समस्या का यह स्याह पहलू है। कतिपय राजनेताओं द्वारा आतंकवादियों का पिष्टपोषण। बटला मुठभेड़ पर

न्यायालय के निर्णय के पश्चात् यह प्रवृत्ति साफतौर से उजागर हो गई है। कुछ नेता अभी भी इसे एक फर्जी एनकाऊंटर करार दे रहे हैं। जबकि इसमें देश का एक जांबाज पुलिस इंस्पेक्टर शहीद हो चुका है। ऐसी घटनाओं से खफा होकर सूरज पांडे जैसे फिल्मकार को "द एक्टिविस्ट" फिल्म बनानी पड़ती है। इस फिल्म को लेकर सूरज पांडे को धमकाया जाता है, भविष्य में ऐसी फिल्में न बनाने को पाबंद किया जाता है परन्तु अंततः सूरज हिम्मतपूर्वक 'एक्टिविस्ट पार्ट टू' बनाने का फैसला कर ही लेता है। इस कहानी (द एक्टिविस्ट) में कथानायक सूरज पांडे स्थान-स्थान पर अपने विचार खुलकर रखता है यथा; 'उधर इस्लामिक गतिविधियों का खुला संरक्षण, बढ़ावा इधर भारतीय गुरुओं का एक्सपोजर जिसमें धर्मान्तरण कर किसी भी धर्म में जाने का रास्ता साफ। वह दिन दूर नहीं जब हम इसी देश में अपने को अल्पसंख्यक पायेंगे। फिर यह ही विकल्प होगा या तो मरो या धर्मान्तरण . . . हम बहुसंख्यक हैं ही कीड़े-मकोड़े की तरह मरने के लिए . . . . यह कैसा देश है, कैसे संवेदनशील नेता हैं। कैसे लोग हैं जहाँ बहुसंख्यक मारे जाएं तो नाम आंकड़े कम से कम दो। दूसरे मारे जाएं तो वह बार-बार दिखाओ।' इस तरह एक्टिविस्ट सूरज पांडे के विचारों को पढ़कर लगता है कि वह राइटिस्ट है, उसकी आंखों पर धर्म और संप्रदाय का चशमा चढ़ा हुआ है। लेखक ने ऐसे छद्म एक्टिविस्टों की ठीक शिनाख्त की है। कहना न होगा कि एक सच्चा कलाकार इंसानियत को सर्वोपरि समझता है न कि धर्म और संप्रदाय को। गलत दृष्टिकोण अच्छे प्रयास की रेटिंग को कम कर देता है। कथानायक सूरज पांडे की फिल्म 'द एक्टिविस्ट' के साथ ऐसा ही है।

'परकटे परिन्दे' अमानवीयता और इंसानियत मनुष्य के इन दो चेहरों को चित्रित करने वाली हृदयस्पर्शी कहानी है। जहाँ एक ओर पिता और भाई सगोत्र विवाह करने वाली अवन्तिका और उसके पति को षड़यंत्रपूर्वक गांव बुलाकर परमधाम पहुंचाने का पक्का इंतजाम करते हैं वहीं दूसरी ओर मासूम लाजो माँ को प्रेरणा से चतुराईपूर्वक समय रहते चेताकर बहन और जीजा की जान बचा लेती है। 'कोई नाम न दो' भी एक खूबसूरत कहानी है। जिसमें प्रेम के दिलकश रंग उभरकर सामने आये हैं। प्रेमी-प्रेमिका चाहे विवाह बंधन में न बंध सकें। फिर भी प्यार उम्र भर जिंदा रहता है। पूरी शिद्दत के साथ, 'प्यार के खूबसूरत अहसास को जिस्मों के बंधनों से परे रखकर आज हम वास्तव में बेहद खुश थे. . . . हमने चाहत को चाहत ही रहने दिया उसे रिश्तों का नाम नहीं दिया।'' 'सागर तट/द बीच' में इसका उल्टा होता है। यहाँ लिव इन रिलेशन में रहने वाले दिव्या और कथानायक अंततः विवाह बंधन में बंधने का निर्णय करते हैं। इस कहानी में गोवा के मड़गांव के वातावरण का बारीक और यथार्थ चित्रण कथाकार की परिवेश पर गहरी पकड़ और सूक्ष्म निरीक्षण क्षमता का परिचायक है।

'वेदिका' कहानी आज के भारत का सच एक दूसरे ही ढंग से उजागर करती है। जिसमें विकास की वेदिका में मासूम बालिका भेंट चढ़ जाती है। 'खेल ' धर्मगुरु के रूप में ठगी करने वाले बाबाओं की पोल खोलती है। इधर 'जाने कब सहर होगी' निजी अस्पतालों के अमानवीय चेहरे की बखिया उधेड़ती है जहाँ लाशों का भी सौदा किया जाता है।

'चलो एक बार फिर से अजनबी हो जाए' अलग ही स्वर की रचना है। यह ओल्ड होम में बसर कर रहे, संतानों द्वारा उपेक्षित समीर और कादंबरी के बुजुर्ग दिलों में फूट रहे प्रेम के कोमल अंकुरण की मासूम की कहानी है। परन्तु अफसोस की बात यह है कि उनका प्रेम किसी सार्थक परिणति को प्राप्त होता इसके पहले ही संतानों के निर्मम पैरों तले रौंद दिया जाता है। ऐसे ऐसे ताने-तिश्ने सुनने को मिलते हैं कि समीर जी बर्दाश्त नहीं कर पाते और उनके प्राण पंखेरू उड़ जाते हैं। यह कहानी एक तरफ टूटते बिखरते रिश्तों का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर एक महत्त्वपूर्ण सवाल उठाती है कि क्या प्यार करने का हक केवल युवाओं को ही है, बुजुर्गों को नहीं?

इस तरह देखा जाए तो डॉ. संदीप अवस्थी की कहानियों का फलक काफी विस्तृत है। यह प्रसन्नता का विषय है कि उनकी दृष्टि की जद से कभी भी सामाजिक सरोकार अलोप नहीं होते। 'उन्हा थ्री' की कहानियां ऐसे सवाल खड़े करती है कि पाठक सोचने को मजबूर हो जाता है। यह इन कहानियों की अतिरिक्त ताकत हैं।

समीक्षय पुस्तक- उन्हा थ्री (कहानी), लेखक डॉ. संदीप अवस्थी, प्रकाशक कश्यप पब्लिकेशन, गाजियाबाद, प्र.व. - 2013, पृष्ठ-104, मूल्य 150 रुपये।

लालमादड़ी

नाथद्वारा (राजस्थान)

पुस्तक समीक्षा

कहानियों की भीड़ से अलग कहानियाँ

पंकज सुबीर

डॉ. सुधा ओम ढ़ींगरा की कहानियाँ अपने पक्ष में बहुत शोर शराबा नहीं करती हैं। ये कहानियाँ बहुत खामोशी के साथ गुजरती हैं। किन्तु इस खामोशी में वो आवश्यक हलचल जरूर हैं जो किसी भी कहानी के लिये जरूरी होती हैं। ये कहानियाँ विमर्श, वाद और उस प्रकार के सभी दूसरे टोटकों से परे अपनी ही एक दुनिया बनाती हैं। वो दुनिया जहां बहुत छोटी-छोटी रोजमर्रा के जीवन से उठाई गई घटनाऐं और अपने ही आस पास टहलते हुए पात्र होते हैं। ये दुनिया इसीलिये पाठक को बहुत अपनी सी लगती है। और इसी कारण वो इन कहानियों से कहीं न कहीं एक प्रकार का लगाव सा महसूस करने लगता है। इन कहानियों के पात्र जीवन से यथारूप उठा कर कहानी में रख दिये जाते हैं। या यूँ कहें कि ये पात्र स्वयं ही टहलते हुए सुधा जी की कहानियों में चले आते हैं। पात्रों की सहजता इन कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता होती है। किन्तु इस सहजता के बावजूद कहानी, सरोकारों के प्रति सजग बनी रहती हैं। लेखिका की सजगता और पात्रों की सहजता के मेल से जो परिणाम सामने आता है वो पाठक को बाँध लेता है।

समलैंगिकता पर क़लम चलाने में पुरुष लेखक ही डरते रहे हैं ऐसे में कहानी 'आग में गर्मी कम क्यों है' लिखना और वो भी पूरी जिम्मेदारी से लिखना। कहानी का शीर्षक पूरी की पूरी कहानी में प्रतिध्वनित होता रहता है। एक रहस्यमय अंधेरी दुनिया के कुछ परदों को उठाने का प्रयास लेखिका ने बहुत सफलता के साथ किया है। कहानी उन सारी समस्याओं की बात करती है जो समलैंगिकता से जुड़ी हैं। और इस समस्या का वैज्ञानिक पक्ष भी तलाशने की कोशिश करती है। रसायनों के खेल के माध्यम से समलैंगिकता और विषमलैंगिकता की अबूझ पहेली का हल तलाशने की कहानी है ये। लेखिका ने कहानी को पूरी तैयारी के साथ लिखा है। कहानी को इस विषय पर लिखी गई श्रेष्ठ कहानियों में रखा जा सकता है।

इन दिनों बड़े-बड़े विषयों पर बड़ी बड़ी कहानियाँ, बड़े ताम झाम के साथ लिखने का चलन सा हो गया है। जीवन की छोटी-छोटी घटनाएं कहानी का विषय नहीं बन पा रही हैं। जबकि पाठक इनको ही अधिक पसंद करता है। ऐसे में 'और बाड़ बन गई' जैसी कहानियाँ पाठक को राहत प्रदान करती हैं। बहुत छोटी सी घटना, जिसमें नया पड़ोसी अपने घर के चारों तरफ बाड़ लगवा रहा है। उस बाड़ को प्रतीक बना कर मानव मनोविज्ञान की खूब पड़ताल कर ली गई। कहानी भले ही अमेरिका में चलती है किन्तु स्थापित यही होता है कि मनोविज्ञान कमोबेश वही है, देश भले ही कोई सा भी हो। ये कहानी अपनी पूरी सरलता के साथ अपने आप को पाठक से पढ़वा ले जाती है। पाठक बाड़ के बहाने चल रहे विमर्श का पूरा आनंद लेता है और कहानी से जुड़ा रहता है। बाड़ के एक छोटे से प्रतीक को लेखिका ने अद्भुत विस्तार दिया है। ये प्रतीक जाने कहाँ कहाँ से गुजरता है अपने निशान छोड़ता हुआ।

'कमरा नंबर 103' बिल्कुल अलग प्रकार की कहानी है। टैरी और एमी के अलावा जो तीसरा मूक पात्र मिसेज वर्मा कहानी में उपस्थित है, उसकी खामोशी के संवाद लेखिका ने बहुत सुंदर तरीके से लिखे हैं। ये भी अपने ही प्रकार की एक कहानी है। जिसमें एक पात्र भले ही कोमा में है कि किन्तु संवाद बराबर कर रहा है। उसके संवाद एकालाप की तरह होते हैं। दूसरी तरफ नर्स टैरी और एमी के संवादों के माध्यम से समस्या के मूल तक जाने के प्रयास में कहानी लगी रहती है। ये जो दो समानान्तर रूप से चल रही घटनाएँ हैं ये कहानी को रोचक बनाए रखती हैं। मिसेज वर्मा कोमा में हैं और उस कोमा के पीछे के सच को जानने की कोशिश में लगी हैं टैरी ओर एमी। कहानी के अंत में मिसेज वर्मा भी इस कोशिश में शामिल होती हैं, मगर अपने ही तरीके से। कहानी मन को छू जाती है।

टारनेडो लेखिका की एक सफल और चर्चित कहानी है। ये कहानी भारत से अमेरिका के बीच में पेंडुलम की तरह डोलती है। और इस डोलने के बीच कई बिंदुओं को छूती है। यह कहानी भारतीय परंपराओं की स्थापना की कहानी है। लेखिका ने पाश्चात्य जीवन शैली और भारतीयता को एक साथ कसौटी पर कसा है। उन्मुक्तता और मर्यादा के हानि लाभों को खोला गया है इस कहानी में। मिसेज शंकर एबनार्मल हैं, ये वाक्य भारतीयता के बारे में मानो पूरे पश्चिम द्वारा बोला गया वाक्य है। बरसों से भारतीयों को एबनार्मल बता कर उन्हें संस्कारित करने का प्रयास होता है। लेखिका ने अपनी जन्मभूमि और कर्मभूमि दोनों का तुलनात्मक पाठ कहानी में प्रस्तुत किया है।

वह कोई और थी कहानी एक बहुत आम समस्या को अलग तरह से प्रस्तुत करती है। विवाह के माध्यम से अमेरिका की नागरिकता लेना तथा उसके लिये अपने

साथी की हर बात को सहन करना। ये कहानी का एक पक्ष है, किन्तु, दूसरा पक्ष ये भी है कि यदि वे विवाह नागरिकता लेने के लिये न होकर प्रेम के चलते किया गया हो तो. . . ? कहानी ग्रीन कार्ड, अस्थाई नागरिकता जैसे तकनीकी शब्दों के अर्थ कहानी में आम पाठक के लिये सरलता से आते हैं। ये कहानी एक अलग प्रकार के पुरुष विमर्श की कहानी है। पुरुष विमर्श, जिस पर चर्चा करने से हर कोई कतराता है। समलैंगिकता के बाद पुरुष विमर्श पर कहानी लिख कर लेखिका ने मानो निर्धारित दायरों को तोड़ने की चुनौती को स्वीकार किया है। हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श नाम पर जो एकपक्षीय लेखन पिछले कई दिनों से चल रहा है उसका प्रतिकार है ये कहानी।

डॉ. सुधा ओम ढींगरा की कहानियाँ अपने अनोखे विषयों के लिये चर्चित रहती है। और इस संग्रह की कहानियों में भी वो विविधता, वो अनोखापन है। नये और अछूते विषयों को अपनी कहानियों के लिये चुनने की लेखिका की जिद उनकी कहानियों को भीड़ से अलग बनाती है और इस संग्रह की कहानियों में भी वो जिद लगभग हर कहानी में नज़र आती है।

पी.सी. लैब, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट
बस स्टैंड के सामने, सीहोर मध्यप्रदेश 466001

पत्र-संवाद

डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे

लातूर (महाराष्ट्र)

'अक्सर' का जुलाई-सितम्बर 2013 अंक पच्चीस प्राप्त हुआ। डॉ. शिवकुमार मिश्र मेरे आत्मीय मित्र थे। मुखपृष्ठ पर उनकी तस्वीर देखकर पुरानी यादें उमड़ घुमड़ कर आने लगी। बड़ी निष्ठा से आप अंक निकालते हैं। अधिकांश साहित्य-विधाएँ एक ही अंक में पढ़ने को मिलीं। डॉ. हारुन रसीद खान, बानो सरताज, डॉ. अनिता नायर के लेख काफी विचारोत्तेजक लगे। कविताएँ भी स्तरीय हैं। इस सुंदर अंक के लिए आपको बधाई।



डॉ. रमाकांत शर्मा

जोधपुर

'अक्सर' बराबर पढ़ रहा हूँ। बड़ी ही महत्त्वपूर्ण और जरूरी पत्रिका बनती जा रही है। वस्तु और रूप दोनों दृष्टि से यह पत्रिका संग्रहणीय बनती है, जिसे संभाल कर रखा जाना चाहिए।



डॉ. आई दानसिंह भाटी

जोधपुर

'अक्सर' मिली। भरपूर पाठ्य सामग्री मिली। राजनीति और धर्म की जुगलबंदी : बाबाओं की अपराध लीला में आपने बाबाओं की ऐतिहासिक लीलाओं को स्मरण किया है 'साथ ही यह भी सच है कि धर्मनिरपेक्षता जैसा भ्रामक प्रत्यय एक कल्पना मात्र है।' कहकर छद्म बौद्धिकों का मुखौटा उखाड़ा है। आपने कहा कि- 'मार्क्स ने भी नहीं

माना कि धर्म को हम मानव जीवन से समूल नष्ट कर सकते हैं।' यह एक मार्क्सवादी के लिए घोर उलझन की स्थिति हो सकती है किन्तु भारतीय समाज के लोक जीवन की 'मानवीय संहिता' में विश्वास करने वालों और मेरे जैसे ढुलमुल प्रगतिशील जनवादी के लिए सांत्वना जैसा है। संस्कृति, साहित्य और समाज पर आपने इस अंक में बहुत सबल-सामग्री दी है।

डॉ. शिवकुमार मिश्र के साथ मैं व्यक्तिश: जोधपुर में आयोजित जनवादी लेखक संघ के समारोह में मिला था और फिर तो अनेक आयोजनों में साथ रहा। वे स्व. श्री हरीश भादानी के सम्मान में आयोजित तीन दिवसीय समारोह में बीकानेर में मिले थे और उन्होंने श्रोताओं को आनन्दित किया था। मैंने पिछले दिनों 'रवीन्द्रनाथ की कविताएँ' शीर्षक पुस्तक (पृष्ठ-316) का राजस्थानी अनुवाद किया है, जिस पर साहित्य अकादमी नई दिल्ली ने रवि-ठाकुर की एक पेंटिंग छापी है। आपके 'रवीन्द्रनाथ के साहित्य की चित्रात्मकता' (डॉ. हरिश्चन्द्र मिश्र) लेख ने मुझे अनुवाद करते वक्त के कार्यकाल में पहुँचा दिया। रमाकांत श्रीवास्तव और डॉ. सन्हैयालाल ओझा के साक्षात्कार ऐतिहासिक-साहित्यिकता के पथ की कड़ियाँ हैं। और भारतीय पर्यावरण-नीति तत्त्व (डॉ. बानो सरताज) शोध के श्रम की कड़ी है। सवाई सिंह शेखावत, हरीश करमचन्दाणी के रचनाकर्म की अंतरंगता से पड़ताल करते हैं।

'दृष्टि' में 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रश्न-राजस्थान के संदर्भ में राजाराम भादू महत्त्वपूर्ण सवाल उठा रहे हैं किन्तु रामविलास जी शर्मा के जातीय स्वरूप में ही उलझकर रह गए हैं। वे राजस्थान के सम्बन्ध में जो पुनर्जागरण की बात कह रहे हैं उसे कहकर छोड़ भी रहे हैं।



रेवतीरमण शर्मा

अलवर

'अक्सर' में प्रकाशित सामग्री उत्तरोत्तर बेहतर और 'नोटिसेबल' आ रही है। आपका सम्पादकीय सदा की तरह ठोस और दमदार है, उसका शीर्षक 'राजनीति और धर्म की जुगलबंदी के स्थान पर 'राजनीति, धर्म और धन की जुगलबंदी' होना चाहिये था। यह धन (पूँजी) ही है जो राजनीति और धर्म को प्रदूषित करता है। पत्रिका के मुख पृष्ठ पर डॉ. शिवकुमार मिश्र का एक अच्छा चित्र देकर आपने उन्हें ठीक से श्रद्धांजली अर्पित की है।

डॉ. रमाकान्त श्रीवास्तव का साक्षातकार को इस अंक की उपलब्धि माना जा

सकता है। लेकिन दूसरे साक्षात्कार से क्षमा चाह सकते थे। 'चिन्तन' के नीचे एक शीर्षक आलेख है 'भारतीय पर्यावरण-नीति तत्त्व' आलेख में सम्मिलित तथा बहुपठित हैं। संस्कृत वैसे भी पतनोन्मुख भाषा हो गई है। यह जड़ीभूत है। आगे विकसित नहीं हो रही है। यह ब्राह्मणी भाषा रही होगी। आम-जन की भाषा कभी नहीं रही। यदि पर्यावरण पर लेख ही लिखाना था तो किसी पर्यावरणविद सुन्दरलाल बहुगुणा जैसे किसी भी अन्य प्रबुद्ध कार्यकर्ता से लिखाते, तो पाठकों के प्रति अधिक न्याय होता।

हरीशचंद कर्मचन्दाणी की कविता 'कामयाबी' पर सवाई सिंह शेखावत का आलेख प्रभावित करता है। अच्छा हो यह क्रम प्रदेश के अन्य कवियों की कविता के उत्खनन के रूप में जारी रहे।

आप जैसे सम्पादक से पाठकों को अधिक अपेक्षाएँ हैं।



हरिशंकर शर्मा

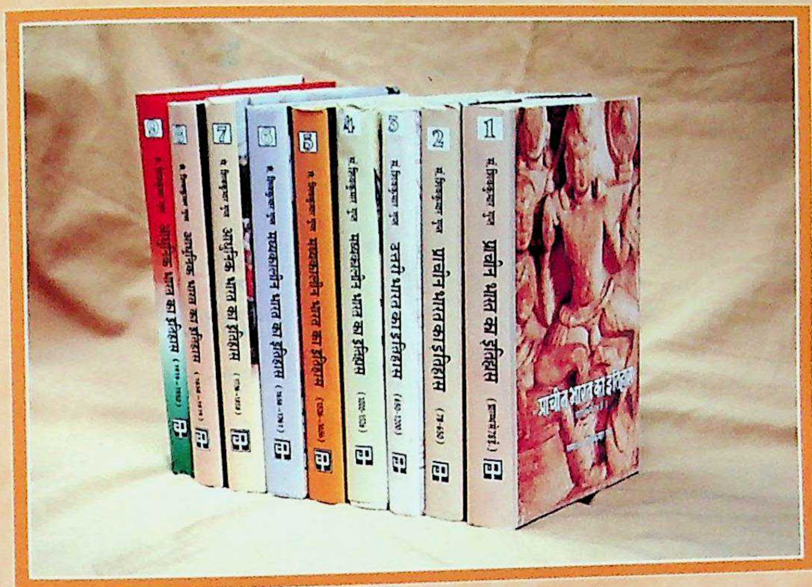
जयपुर

'अक्सर' मानव संघर्ष की रचनात्मक अभिव्यक्ति का (जनवरी-मार्च 13) अंक मेरे सामने है। डॉ. हेतु भारद्वाज ने 'युवा अवसाद और हमारी शिक्षण संस्थाएँ' सम्पादकीय में शिक्षण संस्थाओं की उन बुनियादी कमियों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता पर बल दिया, ताकि इन संस्थाओं का युवा-वर्ग कुंठित होकर आत्महत्या न करे। व्यवसाय से महत्वपूर्ण है, युवक-युवतियों को सामान्य जीवन-जीने की कला कैसे सिखाएँ? आत्मचिंतन में अग्निशेखर ने मिथक, महाभारत और मेरी एक लम्बी कविता में महाकवि व्यास के कालजयी महाभारत को (उन्होंने) काव्य से अधिक इतिहास सिद्ध करने की कोशिश की है। उन्होंने इसे मिथकीय घटक्रम का नामकरण दिया है। यह लेख खोजपूर्ण है। पत्रिका में स्मरण, विमर्श, वातायान, मूल्यांकन, कहानियाँ, कविताएँ, शोध, व्यंग्य, पुस्तक-समीक्षा, गोष्ठी प्रसंग तथा पत्र-संवाद कालम हैं। कहानी 'विस्थापित' में शशि भूषण बड़ोनी ने टिहरी बाँध के माध्यम से विस्थापन और जन आन्दोलन की समस्या को रेखांकित किया है। कवि निशि की कविता में आधी आबादी का सच-नारी जीवन की है करुण कहानी/सदियों से उसका होता आया शोषणा/यह दस्तूर अभी तक जारी है।

भारत का सम्पूर्ण राजनीतिक इतिहास–प्रारम्भ से 1950 ई. तक

(नौ जिल्दों में)

सम्पादक : डॉ. शिवकुमार गुप्त



प्रख्यात इतिहासविदों द्वारा लिखित भारत के सम्पूर्ण इतिहास का प्रामाणिक तथा शोधपरक विवेचन

इतिहासवेत्ताओं, शोधार्थियों, विद्यार्थियों तथा इतिहास के गम्भीर पाठकों के लिए पंचशील, जयपुर का गौरवशाली प्रकाशन

प्रत्येक खण्ड का मूल्य 500/– रुपये

पंचशील प्रकाशन

फ़िल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर–302003

फोन : 0141-2315072, 2314172, फैक्स : 5113854

Website : www.panchsheelprakashan.com

e-mail : info@panchsheelprakashan.com



विजयदान देथा

(1926-2013)